कलकत्ता '85

कलकत्ता '85

विमल मित्र

श्रद्धेय
पं० अक्षयचन्द्र शर्मा
को
सादर
समर्पित !

—विमल मित्र

अनुवादक का वक्तव्य

श्रद्धेय विमल मित्र जी की कहानियों का यह अभिनव संकलन सुधी पाठक-पाठिकाओं के समक्ष प्रस्तुत है। इन कहानियों का अनुवाद करने के क्रम में इनके विभिन्न चरित्रों से तादात्म्य स्थापित कर मैंने जो आनन्दानुभूति प्राप्त की है, उसे शब्दों में लिपिबद्ध नहीं किया जा सकता। यह तो गूंगे का गुड़ है, वर्णनातीत है।

कथाशिल्पी विमल मित्र जी बंगला भाषा के ही नहीं, अपितु समस्त भारतीय भाषाओं के गौरव-स्तम्भ हैं। उनका साहित्यिक अवदान—परिणाम और गुणवत्ता, दोनों में ही—चिरस्मरणीय रहेगा। शरत् बाबू के बाद अगर किसी ने समस्त भारतीयों का हृदय जीता है, तो वे हैं श्री विमल मित्र ही। विभिन्न चरित्रों की सृष्टि में इन्हें महारत हासिल है। ऐतिहासिक पटभूमि में विरचित अपने उपन्यासों में इन्होंने प्रायः दो शताब्दियों के सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक चित्र को कुशलता के साथ प्रस्तुत किया है। अतीत के गौरव के साथ-साथ इन्होंने वर्त्तमान काल के अवक्षय को बखूबी दिग्दर्शित किया है। आज अपने जीवन के पचहत्तरवें साल में भी (जन्म-तिथि : 18 मार्च, 1912) आप पूरी सक्रियता के साथ मां शारदा की आराधना में रत हैं। अपनी महती साहित्य-सेवा के लिए श्री विमल मित्र जी मोतीलाल घोष पुरस्कार, रवीन्द्र पुरस्कार, पूनमचन्द भुतोड़िया पुरस्कार, शरत् पुरस्कार एवं अशोक कुमार सरकार स्मृति पुरस्कार से सम्मानित किये गए हैं।

प्रस्तुत संकलन में कुल बारह कहानियां सम्मिलित की गई हैं। इन कहानियों में से 'घाट बाबू' ('कादम्बिनी', फरवरी '86) एवं 'कलकत्ता '85' ('साप्ताहिक हिन्दुस्तान', 9 जून '85) ने तो पाठकों के मन में व्यापक आलोड़न की सृष्टि की है। 'कलकत्ता '85 के सम्बन्ध में एक पाठकीय प्रतिक्रिया देखिए—

"······विमल दा की कहानी 'कलकत्ता '85' ने एक बार पुनः सिद्ध कर दिया कि वह आज देश के सर्वश्रेष्ठ कथाकार हैं। लेखक का यह बेबाक कथन कि हमारे देश के 'पावर हाउस' का 'चरित्र' नाम का 'स्क्रू' ढीला पड़ गया है, हमारे समय का सबसे बड़ा सच है···।

('साप्ताहिक हिन्दुस्तान', 7 जुलाई 1985)"

इसी तरह 'घाट बाबू' के सन्दर्भ में देश के कोने-कोने से श्री विमल मित्र जी को पाठकों के इतने पत्र मिले कि स्वयं उन्हें भी चकित रह जाना पड़ा।···इसी संकलन में एक कहानी है—'कहानी एक मन्दिर की' एक सामान्य सा कथानक···! लेकिन इस सामान्य-से कथानक में विमल दा की असामान्य उक्ति हमें चमत्कृत कर डालती है—"संख्या के आधार पर जिस देश की किस्मत का फैसला होता है, उस देश को बहुतेरी तकलीफों का सामना करना पड़ता है। इस तथ्य को मैंने बहुत पहले ही इतिहास के पन्नों से ढूंढ़ निकाला है।···(इसीलिए) मैं हमेशा ही अल्प संख्या वालों के दल में रहा हूं।" इसी प्रकार 'बादशाह की वापसी' कहानी में लेखक ने एक संवाद में कहलाया है—"बेटा, आदमी का स्वभाव ही ऐसा होता है। कोई उसे नुकसान पहुंचाये या नहीं, वह दूसरों को नुकसान जरूर पहुंचायेगा। इसीलिए तो कहती हूं कि आदमी बड़ा ही खतरनाक जानवर होता है।" मानव-स्वभाव की कैसी सटीक व्याख्या है! इसी तरह 'फर्स्ट कौन?' कहानी जहां हमारे मर्म को छू लेती है, वहीं 'विगत वसन्त' के नायक की ट्रैजेडी हमें व्यथित करती है। किस-किस कहानी का नाम गिनाऊं? 'खेल-खेल में', 'अभिनय', 'डोरी', 'पन्ना जोगलेकर', 'असली-नकली' एवं 'किस्सा एक दावत का'—सबों में आप अलग-अलग वैशिष्ट्य पायेंगे। विनम्रता के साथ कहूंगा कि सभी कहानियां बेजोड़ हैं। को बड़-छोट कहत अपराधू···!

इस कहानी-संग्रह के परिशिष्ट में श्री विमल मित्र जी के तीन अनूठे लेखों को भी सम्मिलित किया गया है। इनका अनुवाद भी अधोहस्ताक्षरकारी ने ही किया है। ये लेख जहां सामान्य पाठकों को कहानी-सा आनन्द प्रदान करेंगे, वहीं साहित्य के गम्भीर अध्येताओं के लिए श्री विमल मित्र और उनकी साहित्य-सर्जना को समझने की ठोस पृष्ठभूमि उपलब्ध करा सकेंगे। ये लेख हैं—'मैं लेखक नहीं हूं' ('नवनीत', अक्टूबर 1984), 'नहीं भूलतीं यादें···' ('कादम्बिनी', मार्च 1984) एवं 'एक अनकही कहानी' ('धर्मयुग', 9 मार्च 1986)।

सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली के द्वारा श्री विमल मित्र के पांच कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। उदाहरणत: (i) विमल मित्र की श्रेष्ठ कहानियां—भाग-1 (ii) विमल मित्र की श्रेष्ठ कहानियां—भाग-2 (iii) फिर एक दिन (iv) मर्जी खुदा की एवं (v) खट्‌ठा-मीठा-चरपरा। अब यह ताजा कहानी-संग्रह आपके हाथों में है। आशा है कि श्री विमल मित्र के पूर्ववर्ती कहानी-संग्रहों की भांति इसे भी आपका प्यार—मनुहार और सम्मान मिलेगा। इन्हीं शब्दों के साथ मैं अपना वक्तव्य समाप्त करता हूं।

राम नवमी,
कलकत्ता,
18 अप्रैल, 1986.

—शम्भुनाथ पाड़िया 'पुष्कर'

अनुक्रम

कहानियां

सेष परिशिष्ट

असली-नकली

कहानी का प्लाट कहाँ-कहाँ किस-किस से मिल जाता है, यह भी कम ताज्जुब की बात नहीं। जीवन में मैंने जो कुछ भी लिखा है—कथा-साहित्य या उपन्यास—वह यूँ ही लिख डाला है। इसमें वस्तुतः मेरा कोई भी कृतित्व नहीं। जो कुछ भी कृतित्व है, वह उस अदृश्य विधाता-पुरुष का ही है।

अब इस कहानी की बात ही लीजिए। मैं जयपुर गया हुआ था। जयपुर के हीरे-जवाहरातों की भारी शोहरत है। मुझे भी एक उम्दा किस्म के पन्ने की खास जरूरत थी। सो मैं पन्ना खरीदने की गरज से ही जवाहरातों की एक दुकान में गया था।

उसी दुकान में घटी एक अजीबोगरीब घटना का ब्योरा सुना रहा हूँ।

सचमुच यही बात मैं बीच-बीच में सोचा करता हूँ। हिन्दुस्तान में मैं जहाँ भी गया हूँ, वहीं मैंने हर पल उसी एक ही अखण्ड आत्मा के विभिन्न रूपों को प्रतिभासित होते देखा है। बंगाल के किसी शहर में मैंने जो कुछ देखा है, वही देखा है सुदूर राजस्थान में भी।

मेरे जयपुर के दोस्त प्रताप सरकार ने मुझसे कहा था—अगर पन्ना खरीदना है, तो मैं तुम्हें अपनी जान-पहचान की एक दुकान में ले जा सकता हूँ।

मैंने जवाब दिया था—मैं किसी नामी दुकान में जाना नहीं चाहता। वे गला-काट दाम वसूल करने से बाज नहीं आयेंगे।

लेकिन प्रताप सरकार एक अरसे से जयपुर में रहते थे। राजस्थान के सचिवालय में नौकरी करते-करते उन्होंने अपने बाल सफेद किये थे। और फिर उनको नाटक-थियेटर की खासी सनक थी। जयपुर के हर तबके के बीच वे अपनी मिलनसारिता की वजह से लोकप्रिय थे। कुल मिलाकर यह कह सकते हैं कि उन पर निश्चित होकर भरोसा किया जा सकता था।

मेरी जरूरत की बात सुनकर वे मुझे अपनी गाड़ी में बिठाकर कहाँ ले आये, उस जगह का पता-ठिकाना जानने की मुझे आवश्यकता न थी।

मैंने देखा कि वह दुकान कोई तड़क-भड़क वाली दुकान नहीं थी।

एक बूढ़ा कारीगर भीतर की तरफ बैठा किसी रत्न को ठुक-ठुक कर तराश रहा था। दोपहर का वक्त था और दुकान का मालिक दुकान पर मौजूद न था।

प्रताप एकबारगी दुकान के भीतर घुस गया।

उसने पूछा—क्यों भाई हरि बाबू, आपके मालिक कहाँ हैं? मिस्टर प्रेमलानी कहाँ गये हैं?

अपना काम रोककर हरि बाबू बाहर आये। उन्होंने प्रताप सरकार का स्वागत करते हुए कहा—बैठिए सरकार बाबू, प्रेमलानी सा'ब तो खाना खाने के लिए घर पर गये हैं। कहिए, मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ?

—क्या आप हमें एक पन्ना दिखायेंगे? ये हैं मेरे दोस्त—मित्तिर बाबू। कलकत्ते से आये हैं। इन्हें एक पन्ना खरीदना है। पाँच रत्ती का पन्ना होने पर ही काम चल जायेगा।

बूढ़े हरि बाबू दुकान के कोने में रखी एक लोहे की तिजोरी खोलकर पन्ना बाहर निकालने लगे।

इसी बीच एक गाड़ी के रुकने की आवाज सुनाई पड़ी। मैंने पीछे मुड़कर देखा कि दुकान के सामने आकर एक बड़ी-सी गाड़ी रुकी थी। उसे देखते ही ऐसा लगा कि वह किसी रईस आदमी की गाड़ी थी। सामने वर्दी पहने हुए ड्राइवर था। और पीछे की सीट से एक महिला उतर रही थी।

झल-मल करती जरी की साड़ी। गले में मोतियों का हार और कानों में मोतियों के कर्णफूल। दोनों कलाइयों में मोती-जड़े सुवर्ण-कंगन। वह महिला गाड़ी से उतरकर एकबारगी दुकान के भीतर आ धमकी।

उसने आते ही पूछा—क्या आपकी दुकान में मोतियों का हार मिल सकता है? झूठे मोतियों का हार?

हरि बाबू संभवत: उस महिला की बात सुनकर हैरान रह गये।

उन्होंने पूछा—झूठे मोतियों का हार?

उस महिला ने कहा—हाँ, ठीक वैसा ही, जैसा मैंने पहन रखा है। यह हार असली मोतियों का है, लेकिन मुझे चाहिए झूठे मोतियों का। हू-ब-हू इसी डिजाइन का।

यह कहकर उस महिला ने अपने गले का मोतियों का हार खोलकर काउण्टर पर रख दिया। हरि बाबू ने चश्मा लगाकर उस हार की भली-भाँति जाँच-पड़ताल शुरू कर दी।

उस महिला ने कहा—यह हार बिलकुल असली मोतियों का है। लेकिन मैं चाहती हूँ झूठे मोतियों का हार। एक शादी में वह हार उपहार में देना है। हाँ, उस हार की डिजाइन बिलकुल ऐसी ही होनी चाहिए।

हरि बाबू बारीकी के साथ उस हार का निरीक्षण-परीक्षण कर रहे थे।

हरि बाबू ने अपनी जाँच समाप्त कर कहा—लेकिन आपका यह हार तो सच्चे मोतियों का नहीं है। इसमें सारे-के-सारे झूठे मोती हैं।

—ह्वाट? इसमें सच्चे मोती नहीं हैं? क्या कह रहे हैं आप? कितने दिनों से

दुकान में काम कर रहे हैं ?

उस महिला ने हरि बाबू की बातें सुनकर अपने-आप को हम लोगों के बीच संभवतः अपमानित महसूस किया था। इसीलिए उसके मुंह से धमकी-भरे स्वर में रोष-पूर्ण बातें निकल रही थीं।

—झूठे मोती ? उहूँ···! कैसे-कैसे आदमी यहाँ दुकान पर रखे गये हैं, जो मोतियों को पहचानते ही नहीं। जानते हैं, मैं कौन हूँ ? मैं दो मिनट के भीतर आपकी नौकरी खा सकती हूँ, समझे ? कहाँ हैं आपके मालिक ?

हरि बाबू ठहरे निरीह और वृद्ध कर्मचारी। ऊँचे सुर में जवाब देना उनके लिए शोभनीय होता भी नहीं।

उन्होंने धीरे से कहा—मैं पैंतीस साल से यही काम कर रहा हूँ माँ जी। क्या मुझे मोतियों की पहचान नहीं होगी ? मैं दावे के साथ कह रहा हूँ कि ये मोती सच्चे मोती हर्गिज नहीं हैं। दुकानदार ने जरूर आपको ठग लिया है।

हरि बाबू की बातें सुनकर वह महिला मानो गुस्से से थर-थर कांपने लगी।

उसने पूछा—आपके मालिक कहाँ हैं ?

हरि बाबू ने कहा—प्रेमलानी साहब इस समय खाने के लिए घर पर गये हैं। अब वे पांच बजे शाम को दुकान में आयेंगे।

—ठीक है, आपके मालिक को आने दीजिए। फिर देखिएगा कि मैं आपको कैसा मजा चखाती हूँ।

यह कहकर वह जिस तरह आँधी-तूफान-सी आई थी, उसी तरह दुकान से बाहर चली गई। देखते-ही-देखते वह महिला गाड़ी में बैठ गई और गाड़ी सों-सों करती हुई पल भर में ही अदृश्य हो गई।

यह सारी घटना सात-आठ मिनटों के भीतर ही घट गई। मैंने हैरान होते हुए अपने मित्र प्रताप के मुंह की तरफ देखा। प्रताप ने हरि बाबू से प्रश्न किया—क्यों हरि बाबू, आपकी नौकरी जाने वाली है क्या ?

हरि बाबू दार्शनिकी भंगिमा धारण करते हुए हँस पड़े।

उन्होंने कहा—प्रताप बाबू, इसी लाइन में मैंने अपनी जिन्दगी खपा दी। पता नहीं अब और क्या-क्या देखना होगा ! लेकिन झूठे मोतियों को मैं सच्चे मोती कैसे कह सकता हूँ, आप ही बताइए ? अगर मेरी जुबान काट दी जाये, तो भी मैं ऐसा नहीं कह सकता।

प्रताप ने मेरी तरफ देखते हुए कहा—हम लोगों के हरि बाबू बहुत पुराने आदमी हैं। कहाँ है बंगाल और कहाँ राजस्थान ! ये आज से पैंतीस साल पहले बंगाल से आकर यहाँ रत्न तराशने के काम से जुड़े हुए हैं।

मैं भी प्रताप की बातें सुनकर ताज्जुब में पड़ गया।

इसी बीच दुकान में दुकान के मालिक मिस्टर प्रेमलानी चले आये। उनका चेहरा देखते ही प्रतीत होता था कि वे एक धनी-मानी आदमी थे। जाति के थे सिन्धी। मैंने सुना कि सारे हिन्दुस्तान में उनका हीरे-जवाहरातों का कारोबार फैला हुआ था।

प्रताप सरकार को देखते ही प्रेमलानी साहब ने हँसते हुए अपना हाथ आगे बढ़ा दिया।

उन्होंने कहा—क्या खबर है प्रताप बाबू ?

प्रताप ने कहा—एक पन्ना खरीदने के लिए आये हैं साहब। बिलकुल निदाग पन्ना होना चाहिए। ये हैं मित्तिर बाबू, मेरे दोस्त। कलकत्ते से आये हैं। इनके लिए ही पन्ना खरीदना है। देखिए, कीमत अधिक मत लगाइएगा।

प्रेमलानी साहब ने पूछा—क्यों, हरि बाबू ने आपको पन्ना नहीं दिखाया ?

प्रताप ने कहा—हरि बाबू हमें पन्ना दिखाने ही जा रहे थे कि इसी बीच एक काण्ड हो गया।

—काण्ड ? कैसा काण्ड ?

हरि बाबू ने कहा—वही ठाकुर साहब की बीबी जी आई थीं। वे एक झूठे मोतियों का हार खरीदना चाहती थीं।

उसके बाद सारी घटना का विवरण सुनकर प्रेमलानी साहब ने कहा—सो आपने यह क्यों कहा कि उनका हार झूठे मोतियों का था ?

हरि बाबू ने कहा—झूठे मोतियों को मैं सच्चे मोती कैसे कह सकता हूँ, आप ही बताइए।

प्रेमलानी साहब ने कहा—सो आप ठाकुर साहब की बीबी जी के साथ खाम-ख्वाह बहस में उलझ गये। आप तो जानते ही हैं कि ठाकुर साहब की बीबी जी कैसी औरत हैं···!

प्रताप ने पूछा—क्यों प्रेमलानी साहब, ठाकुर साहब की बीबी जी कैसी औरत हैं, बताइए न !

प्रेमलानी साहब ने कहा—अरे प्रताप बाबू, उनकी बात आप छोड़ ही दीजिए। ठाकुर साहब उन्हें पिछले साल ही बम्बई से ब्याह लाये हैं। इनकी माँ अपने जमाने की मशहूर सिनेमा-एक्ट्रेस थी। शादी करने के बाद से ही ठाकुर साहब की नाक में दम आ चुका है। ये ठाकुर साहब की तीसरी बीबी हैं।

—तीसरी बीबी ?

—हाँ, पहले की दो पत्नियों से तलाक हो चुका है। पहली पत्नी अंग्रेज थी और दूसरी यहूदी। और ये जो तीसरी पत्नी हैं, इनके बारे में कुछ पता नहीं। अजी साहब, कहते तो यहाँ तक हैं कि कोई इनके बाप का नाम तक नहीं जानता।

यह सब सुनकर प्रताप भारी ताज्जुब में पड़ गया।

उसने कहा—क्या सचमुच ? मैं तो यह सब कुछ भी नहीं जानता था।

इन सभी बातों को सुन-सुनकर मुझे भारी ताज्जुब हो रहा था।

मुझे समझाते हुए प्रताप ने कहा—ये सब यहाँ के राजाओं और मंत्रियों के वंशधर हैं। अब तो सारी स्टेट गवर्नमेंट ने ले ली है, इसलिए राजाओं की हालत खराब हो गई है। और फिर मंत्रियों का तो कहना ही क्या !

प्रेमलानी साहब ने कहा—भाई, उनके भीतर अब कुछ भी नहीं बचा। सिर्फ

बाहर का दिखावटी रोब-दाब भर रह गया है।

यह कहते-कहते ही हठात् दुकान के सामने और एक दूसरी गाड़ी आकर खड़ी हो गई।

गाडी की तरफ देखते ही प्रेमलानी साहब ने कहा—यह लीजिए, ठाकुर साहब भी आ गये हैं।

मैंने देखा कि गाड़ी से सूट-बूट मे सजे-धजे एक सज्जन उतरे। उम्र के अधेड़ और शरीर से स्थूलकाय मोटे-सोटे।

दुकान के भीतर आते ही उन्होंने दम लिये बगैर ही कहना शुरू कर दिया—आपने तो मेरा सत्यानाश ही कर दिया प्रेमलानी साहब। मिसेज ने मेरे दफ्तर मे जाकर आपकी दुकान की खूब शिकायत की है। आपका कौन स्टाफ था उस समय दुकान मे?

प्रेमलानी साहब हँसने लगे।

उन्होंने पूछा—क्यों, क्या हुआ है?

—क्या आपने कुछ सुना नही है? क्या आपके स्टाफ ने आपको कुछ भी नहीं बताया?

प्रेमलानी साहब ने कहा—हाँ, बताया है।

मैंने अपनी मिसेज को बताया था कि वह हार पचास हजार रुपयो का है। और आपके स्टाफ ने वह हार झूठे मोतियों का बता दिया है। अब मैं अपनी मिसेज को कौन-सा मुंह दिखाऊँ, आप ही बताइए? मेरी मिसेज समझ गई है कि मैंने उससे झूठ कहा था।

प्रेमलानी साहब बोले—सारा दोष मेरे स्टाफ हरि बाबू का ही है। उनके साथ मुश्किल यह है कि वे झूठ बोल ही नही सकते।

ठाकुर साहब ने पूछा—तो फिर अब क्या होगा? लगता है कि मेरी तीसरी बीवी भी मुझे तलाक देकर चलती बनेगी।

प्रेमलानी साहब ने पूछा—सो आपने अपनी मिसेज से क्या कहा है?

ठाकुर साहब ने जवाब दिया—मैंने मिसेज से यही कहा है कि ऐसा कभी नही हो सकता। दुकान के स्टाफ को मोतियो की पहचान है ही नही। यह हार मैंने बम्बई की एक मशहूर दुकान से कैश पचास हजार रुपये देकर खरीदा है। मैंने कहा है कि मैं उन्हें ऑफिस से लौटकर अपने साथ आपकी दुकान पर लाऊँगा और यह साबित कर दूँगा कि यह हार बेशक सच्चे मोतियों का है। मैं जो इस समय आपकी दुकान मे आया हूँ, मिसेज इस बात से वाकिफ नही।

प्रेमलानी साहब ने कहा—तब तो फिर ठीक ही है। अ प घर जाकर मिसेज को अपने साथ यहाँ दुकान में ले आइए। मैं उनके सामने हार की परीक्षा कर कह दूँगा कि हार सच्चे मोतियों का है।

"ठीक है। मैं पाँच मिनट के भीतर ही अपनी मिसेज के साथ दुकान पर आ रहा हूँ।"

यह कहकर ठाकुर साहब चले गये ।

यह सारा घटनाक्रम मुझे बड़ा ही मजेदार लग रहा था ।

प्रेमलानी साहब ने हरि बाबू की तरफ देखते हुए कहा—आपने तो बेचारे ठाकुर साहब को भारी मुसीबत में डाल दिया है । अगर उनकी यह तीसरी बीवी भी उन्हें छोड़ गई, तो फिर उन पर भला क्या गुजरेगी ?

हरि बाबू भी कम न थे । उन्होंने कहा—लेकिन साहब, नकली चीज को मैं असली चीज कैसे कह सकता हूँ ? आप ही बताइए !

—अगर ऐसा करने पर ठाकुर साहब का उपकार होता हो, तो इसमें भला दोष ही क्या है ? आपका उद्देश्य किसी को नुकसान पहुँचाना तो है नहीं ।

लेकिन हरि बाबू भी टस-से-मस होने वाले जीव नहीं थे । उन्होंने कहा—आप मेरी जीभ काट लें हुजूर, यह मुझे मंजूर है । लेकिन मैं झूठ नहीं बोल सकता साहब ।

तो फिर जब ठाकुर साहब अपनी बीवी के साथ यहाँ आयेंगे और मैं आप पर बेहद नाराज होते हुए आपको खरी-खोटी सुनाऊँगा, तब आप कम-से-कम चुप तो रह सकेंगे न ?

हरि बाबू कुछ जवाब दे पाते, उसके पहले ही ठाकुर साहब की गाड़ी आकर दुकान के सामने खड़ी हो गई । ठाकुर साहब और उनकी मिसेज गाड़ी से उतर कर दुकान में चले आये ।

प्रेमलानी साहब ने आगे बढ़कर उनका स्वागत किया और कहा—आइए, आइए ठाकुर साहब; बहुत दिनों से आपके दर्शन नहीं हुए । कहिए, कैसे हैं आप ? हाल-चाल कैसे हैं ?

ठाकुर साहब ने कहा—आपके पास मैं एक कम्प्लेन लेकर आया हूं, प्रेमलानी साहब । मेरी मिसेज कुछ समय पहले आपकी दुकान में झूठे मोतियों का एक हार खरीदने के लिए आई थी । इन्होंने जैसा हार पहन रखा है, ठीक उसी डिजाइन का । लेकिन सच्चे मोतियों का नहीं, झूठे मोतियों का; एक शादी में उपहार देने के लिए । सो आपकी दुकान में न जाने कौन स्टाफ था; जिसने कह दिया कि इन्होंने जो हार पहन रखा है, वह झूठे मोतियों का है ।

ठाकुर साहब की बीवी ने हरि बाबू की तरफ उँगली दिखाते हुए कहा—हाँ, ये ही थे । इन्होंने ही इस हार को झूठे मोतियों का हार बताया था । यस, दैट मैन···!

प्रेमलानी साहब ने हरि बाबू की तरफ मुँह घुमाकर पूछा—क्यों हरि बाबू ? क्या आपने ही कहा था कि यह हार झूठे मोतियों का है ?

उसके बाद उन्होंने ठाकुर साहब की बीवी जी से कहा—जरा आप अपना हार मुझे दिखाने का कष्ट करेंगी ? जरा मैं इसे देखूँ तो···।

फिर उस हार को लेकर प्रेमलानी साहब उसे घुमा-फिराकर उसमें पिरोये मोतियों को जाँचने लगे । उसके बाद वे उस हार को अपनी मुट्ठी में लेकर दुकान के बाहर आये और उस हार को सूरज की तरफ दिखाते हुए परीक्षण-निरीक्षण करने लगे ।

उसके बाद उस हार को काउण्टर के ऊपर रखकर उन्होंने हरि बाबू से पूछा—क्या आपने इस हार को झूठे मोतियों का हार बताया है ? बोलिए, जवाब दीजिए।

हरि बाबू चुपचाप एक कोने में खड़े रहे।

—बोलते क्यों नहीं ? मुँह में जुबान नहीं है क्या ? मुझे अपने सवाल का जवाब चाहिए। काम करते-करते आपके बाल पक गये, लेकिन अभी तक असली-नकली की पहचान भी नहीं कर सकते ? बस, बैठ-बैठ कर हराम में तनख्वाह लेते रहिए। बोलिए, जवाब दीजिए…।

हरि बाबू फिर भी चुपचाप खड़े रहे। उनके मुँह से एक शब्द भी नहीं निकला।

—बोलते क्यों नहीं ? क्या ये मोती झूठे मोती हैं ? अगर ये झूठे मोती हैं, तो फिर भला सच्चे मोती कैसे होते हैं ? जरा मुझे भी बताने का कष्ट करेंगे ?

ठाकुर साहब ने कहा—छोड़िये भी प्रेमलानी साहब ! आप खामख्वाह इन पर इतने नाराज हो रहे हैं ! इनसे भूल हो गई, क्या किया जा सकता है ! इन्हें छोड़ दो।

प्रेमलानी साहब ने कहा—नहीं-नहीं, इन्हें मैं छोड़ कैसे दूँगा ? इतने दिनों से नौकरी कर रहे हैं, और इन्हें मोतियों को पहचानना ही नहीं आता ! अगर खरीदार ही गुम नहीं रहे तो इन्हें तनख्वाह देकर रखने से फायदा ही क्या है ? हरि बाबू आप अपना हिसाब लीजिये और चलते-फिरते नजर आइए। आप-जैसे आदमी की मुझे कोई जरूरत नहीं।

ठाकुर साहब ने अनुनय-विनय करते हुए कहा—नहीं-नहीं, ये गरीब आदमी हैं। बूढ़े-बुजुर्ग हैं। इन्हें नौकरी से मत निकालिए।

ठाकुर साहब की मिसेज ने अपने पति से कहा—आप प्रेमलानी साहब को आखिर रोक क्यों रहे हैं। ऐसे आदमी को तो तुरन्त डिस्चार्ज कर देना चाहिए।

प्रेमलानी साहब ने फिर ठाकुर साहब की तरफ देखकर नरमी के साथ कहा—ठाकुर साहब, क्या मैं आपसे एक सवाल करने की गुस्ताखी कर सकता हूँ ? आपने यह हार कितने रुपयों में खरीदा है ?

ठाकुर साहब ने कहा—पचास हजार रुपयों में। लेकिन आप यह पूछ क्यों रहे हैं, बताइये तो ?

प्रेमलानी साहब ने कहा—मैं इस हार के लिए कैश सत्तर हजार रुपये देने के लिए तैयार हूँ। क्या यह हार आप मुझे बेचेंगे ?

ठाकुर साहब बोले—आप भी कैसी बातें कर रहे हैं प्रेमलानी साहब !

यह कहकर ठाकुर साहब ने खुद अपने हाथों से वह हार अपनी मिसेज के गले में पहना दिया।

मुझे ठाकुर साहब की मिसेज के मुँह की तरफ देखने पर ऐसा लगा कि उनका सारा गुस्सा और सारा सन्देह पूरी तरह दूर हो चुका था। अब उन्हें न कोई गिला था और न ही थी कोई शिकायत।

आखिरकार करीब डेढ़ सौ रुपयों का एक झूठे मोतियों का हार खरीदकर ठाकुर साहब अपनी बीवी के साथ गाड़ी में बैठकर चले गये।

मैं अवाक् होकर यह सारा नाटक देखता रहा।

खेल-खेल में

विपिन बाबू ने कहा—जानते हो विमल, एक बार मैंने एक आदमी का खून कर दिया था।

मैं हैरान होकर विपिन बाबू के मुँह की तरफ एकटक देखता रह गया। विपिन बाबू को जो लोग जानते हैं, वे भी यह बात सुनकर जरूर हैरान रह जाते; क्योंकि विपिन बाबू-सरीखा सदाशिव और सदानन्द आदमी किसी का खून भी कर सकता है, यह सोच पाना भी उनके लिए नामुमकिन होता। विपिन बाबू सिर्फ सदाशिव और सदानन्द आदमी हों, ऐसी बात न थी। वे थे बड़े ही होशियार और गुणी आदमी। उनकी उम्र सत्तर साल के पार जा चुकी थी। इस उम्र में अकारण ही कोई झूठी बात कहेगा, यह बात भी कल्पना के परे थी।

काशी के 'मुमुक्षु भवन' में हम दोनों की बातचीत हो रही थी।

विपिन बाबू ने फिर कहा—मैंने आदमी का खून बेशक किया है; परन्तु उसके लिए मुझे न तो आजीवन कारावास की सजा मिली और न ही मुझे फांसी दी गई।

यह सुनने के बाद मेरा कौतूहल बढ़ जाना स्वाभाविक ही था।

मैंने कहा—आपकी बात मेरी समझ में बिलकुल ही नहीं आ रही है।

विपिन बाबू ने उसी तरह धैर्यपूर्वक कहा—समझ में नहीं आने की बात है ही। लेकिन मैंने जो कुछ कहा है, उसमें रत्ती-भर भी झूठ नहीं है। सचमुच मैंने एक सच्चे और निर्दोष आदमी का जान-बूझकर खून किया था।

मैंने कहा—लेकिन यह कैसे मुमकिन हो सकता है?

विपिन बाबू ने कहा—दुनिया में सभी कुछ मुमकिन है विमल, सभी कुछ···। इस पृथ्वी पर 'असम्भव' नाम की कोई चीज होती ही नहीं।

यह कहकर विपिन बाबू पल-भर के लिए रुके। उसके बाद उन्होंने कहा—तो फिर पूरा किस्सा ही सुनो···।

अतएव विपिन बाबू के मुँह से सुनी हुई पूरी कहानी उन्हीं के शब्दों में मैं सुना रहा हूँ।

विमल, तुम तो जानते ही हो कि काशी के इस 'मुमुक्षु भवन' में आने के पहले मैं कलकत्ते में रहा करता था। कलकत्ते के निकट शिवपुर नाम के एक इलाके में मेरा मकान था। उस समय मैं एक कॉलेज में प्रोफेसर था। मुझे रिटायर करने में उस वक्त सिर्फ दो साल बाकी थे। तुम तो जानते ही हो कि कॉलेज में प्रोफेसरों को वर्ष में तीन सौ पैंसठ दिनों में सिर्फ एक सौ दिन पढ़ाना पड़ता है। बाकी दिनों में सिर्फ छुट्टी और छुट्टी···! इसलिए मेरे हाथ में खाली वक्त काफी रहता था। ज्यादातर मेरी छुट्टियों का वक्त यार-दोस्तों के साथ गप्पें लड़ाने में ही बीता करता था।

मेरे दोस्तों में एक दोस्त ऐसा था, जो नियमित रूप से मेरे घर पर हाजिरी बजाता था। उसका नाम था सुखमय। सुखमय सरकार···। उसका नाम ही सुखमय नहीं था, बल्कि सच्चे अर्थों में वह सुखमय था—सुखी आदमी था। उसका जीवन सुख से भरा-पूरा था। उसके दो लड़के थे और थीं दो लड़कियाँ। दोनों लड़कियों को बढ़िया घर-वर मिले थे। और उसके दोनों लड़के भी बड़े ही यशस्वी थे। उनका भी विवाह हो चुका था। सिर्फ विवाह ही नहीं, बाल-बच्चे भी हो चुके थे। कहने का मतलब यह कि सुखमय सरकार के घर-संसार को सुखमय कहना झूठ कहना कतई नहीं था। अर्थात् सन्तान और धन-धान्य—सबों का सुख उसे प्राप्त था।

और रुपये?

उसका जो पैत्रिक मकान था, उसकी ही कीमत उस जमाने में करीब दस लाख रुपये रही होगी। उसका मकान सिर्फ मकान नहीं था—एक सुन्दर बगीचे से घिरा हुआ था। मकान से लगा हुआ ही एक तालाब था। उस तालाब में हर साल मछलियों का चारा डाला जाता था। उन मछलियों की बिक्री से ही सुखमय को हजार-हजार रुपये मिला करते थे। उसके बाद बगीचे में फलों के पेड़ भी थे ही। नारियल के पेड़ों में बेशुमार नारियल फला करते थे और उनकी बिक्री से भी सुखमय को खासी आमदनी हुआ करती थी।

और फिर उसका खासा कारोबार भी था। कैनिंग स्ट्रीट में उसकी इलेक्ट्रिकल गुड्स की एक बड़ी दुकान थी। दूसरे विश्वयुद्ध के समय उन चीजों की माँग काफी बढ़ जाने पर सुखमय सरकार की आमदनी भी दस-गुनी हो गई थी। सुखमय सरकार के बैंक-एकाउण्ट में लाखों-लाख रुपये इकट्ठे हो गए थे।

जब सुखमय सरकार के दोनों लड़के बड़े हो गये और जब शादी हो जाने के बाद उन्होंने कारोबार को बखूबी सँभाल लिया, तब सुखमय सरकार बिलकुल चिन्तामुक्त हो गया था।

कुल मिलाकर यह समझ लो कि जिसे सुखी आदमी कहा जा सकता है, सुखमय वैसा ही आदमी बन गया। सुखमय की गिनती बचपन से ही सुखी आदमी में होती रही थी। अपने जीवन के शेष प्रान्त में आकर भी वह सुखी आदमियों की श्रेणी में ही परिगणित होता रहा।

लेकिन इस पृथ्वी पर सम्पूर्ण सुखी आदमी तो किसी को भी नहीं कहा जा सकता। यही बात सुखमय सरकार पर भी लागू होती थी। वह भी सम्पूर्ण सुखी नहीं

था। उसके जैसे आदमी के मन में भी एक अपूरणीय कमी थी, दुख था। वह दुख था उसका विधुर होना।

जब सुखमय सरकार की पत्नी चल बसी, तब वह मेरे पास आकर रोने लगा था।

मैंने कहा था—रोने से क्या होगा भाई ? तुम्हारी स्त्री तो सती-साध्वी महिला थी। वह अपनी माँग में सिंदूर लिये स्वर्ग सिधारी है। यही तो है सती-साध्वी नारी का लक्षण। उसने तुम्हारे घर-संसार की सारी जिम्मेवारियों को पूरा करने के वाद स्वर्ग की राह पकड़ी है। उसने तुम्हारे घर-संसार का कोई भी काम अधूरा तो नहीं छोड़ा।

मेरी वातों से सुखमय को मन में थोड़ी-सी शान्ति मिली।

उसने कहा—सो तो तुम ठीक ही कह रहे हो। फिर भी जानते हो भाई, इतने दिनों का अभ्यास—पिछले पैंतालीस वर्षों का साथ क्या आसानी से भुलाया जा सकता है ?

मैंने कहा—सो तो है ही। फिर भी देखो, आदमी को इस दुनिया में सभी कुछ सहना पड़ता है। समय ऐसी ही चीज है। पुत्र की मृत्यु का शोक भी भुलाते हुए मैंने वहुतेरे आदमियों को देखा है। पत्नी का विछुड़ना पुत्र-शोक से वढ़कर तो नहीं होता। तुम खुद देखोगे कि एक दिन तुम यह सारा शोक भूल जाओगे।

मेरी वातों की सच्चाई को सुखमय सरकार ने स्वीकार किया। उसके बाद वह पैदल ही मेरे घर से अपने घर की तरफ चल पड़ा।

जब भी सुखमय मेरे पास आता, वह किसी-न-किसी वहाने अपनी दिवंगता धर्म-पत्नी की चर्चा जरूर छेड़ देता। अतीत की ढेरों स्मृतियाँ, कितनी ही छोटी-छोटी घट-नाएँ और कितनी ही मिलन और विरह की वातें—कुछ भी भुला न सका था सुखमय। शायद उसने उन सवों को भुलाना चाहा ही नहीं।

मुझे धीरज के साथ सुखमय की नितान्त व्यक्तिगत, पारिवारिक और गोपनीय वातें विना किसी प्रतिवाद के सुननी पड़ती थीं। कब सुखमय के वीमार पड़ने पर उसकी पत्नी ने रात-रात भर जागकर उसकी अक्लान्त सेवा की थी, कव उसकी शादी के समय वासर-गृह में उसकी नव-विवाहिता पत्नी ने कौन-सा गीत गाया था, कब जँवाई-षष्ठी के मौके पर सुखमय की पत्नी ने उससे क्या-क्या वातें की थीं—इन सवों की लम्बी-चौड़ी फेहरिस्त मेरे सामने पेश करने में सुखमय को वड़ा आनन्द आता था।

उसके वाद खड़े होते-होते सुखमय कहता—तुम्हें शायद ये सारी वातें सुनने में अच्छी नहीं लग रही होंगी, किन्तु···।

मैं उसकी वातों का प्रतिकार करते हुए कहता—नहीं-नहीं, तुम्हारी वातें अच्छी क्यों नहीं लगेंगी ! खूव ही अच्छी लग रही हैं। अगर तुम्हारी जगह मैं होता, तो मेरी भी ऐसी ही हालत होती।

मेरी वातों से सुखमय को कुछ सांत्वना मिलती। वह कहता—नहीं भाई, मैं सच ही कह रहा हूँ कि पत्नी के मामले में मैं वड़ा खुशकिस्मत रहा हूँ। शादी के काफी पहले एक ज्योतिषी ने मेरी जन्म-कुण्डली देखकर मुझे वताया था कि मेरी पत्नी के

कदम घर में पड़ते ही मेरी बहुत उन्नति होगी। सचमुच भाई, उस ज्योतिषी की भविष्यवाणी एक-एक अक्षर सच साबित हुई है। और फिर मेरे [illegible] यह कि ज्योतिष-शास्त्र को बहुत-से लोग फिजूल की चीज बताने से बाज नहीं आते।

मैं सुखमय की बातों का समर्थन करते हुए कहता—सुखमय, ज्योतिष-शास्त्र फिजूल की चीज कैसे हो सकती है? हजारों-हजार साल पहले हमारे ऋषि-मुनि कितनी तपस्या के बाद इन शास्त्रों की रचना कर गये हैं। उन सबों को क्या यूँ ही हँसी में उड़ा दिया जा सकता है?

सुखमय मेरी बातें सुनकर खुश हो जाता। वह कहता—तुम्हीं बताओ भाई, अगर ज्योतिष-शास्त्र मिथ्या है तो फिर वह ज्योतिषी मेरी पत्नी के सम्बन्ध में इतनी सटीक भविष्यवाणी किस तरह कर सका? मेरी स्त्री के बदन का रंग गोरा होगा, बड़ी-बड़ी आँखें होंगी—सभी कुछ उन ज्योतिषी ने ठीक-ठीक बता दिया था। आखिर यह किस तरह मुमकिन हो पाया? उस ज्योतिषी ने तो कभी अपनी आँखों से मेरी पत्नी को देखा नहीं था।

सुखमय की बातों का मैं जितना समर्थन करता, वह उतना ही अधिक प्रसन्न होता। प्रसन्न होकर वह अपनी स्त्री की गुणावली और भी विस्तारपूर्वक सुनाने लगता। इसकी वजह यह थी कि मैं उसकी बातों को बहुत ही धीरज के साथ सुना करता था। कभी भी मैं उसकी बातों के प्रति अरुचि नहीं दिखाया करता। अतएव उसका उत्साह और भी बढ़ जाया करता था।

इसी तरह वक्त बीतने लगा—दिन-ब-दिन, माह-दर-माह…।

सुखमय एक दिन और भी सुबह-सुबह मेरे घर पर आ धमका।

आते ही उसने कहा—जानते हो भाई, आज फाल्गुन मास की पच्चीसवीं तिथि थी।

फाल्गुन मास की पच्चीसवीं तिथि से सुखमय का क्या आशय था, यह मैं समझ नहीं पाया था।

मैंने पूछा—हो सकता है कि आज फाल्गुन की पच्चीसवीं तिथि हो। लेकिन आखिर माजरा क्या है? आज के दिन आखिर क्या हुआ था?

सुखमय ने जवाब दिया—आज ही के दिन मेरा विवाह हुआ था।

मैंने पूछा—क्या सचमुच?

मेरे शब्दों में तीन हिस्से खुशी थी, तो एक हिस्सा था ताज्जुब का। मानो पैंतालीस साल पहले के एक शुभ दिन की बात सुनकर मैं खूब ही विस्मित हुआ था और खूब ही आनन्दित भी।

सुखमय ने कहा—हाँ भाई। तुम ही बताओ, क्या इस दिन को मैं सहज ही भुला सकता हूँ? जानते हो, जब तक मेरी पत्नी जीवित थी, तब तक अधेड़ उम्र में भी हम लोग चुपचाप सबों से छुपाकर शादी की सालगिरह मनाया करते थे। किसी भी साल यह सिलसिला टूटा नहीं। और मजा यह कि घर में लड़के-लड़कियों को, बहुओं-

दामादों को और नौकर-नौकरानियों को हम इस बात का आभास तक नहीं होने देते थे।

सिर्फ शादी की सालगिरह ही नहीं, अपनी पत्नी की मृत्यु की बरसी को भी वह हमेशा चुपचाप पालन किया करता था। घर में किसी को भी इस बात का पता नहीं होता। सिर्फ मेरे पास आकर ही सुखमय सारी बातें बता दिया करता। सुखमय कहता—माघ मास की इसी तेईसवीं तिथि को मेरी पत्नी का स्वर्गवास हुआ था। मुझे यह बात याद है। लेकिन घर पर लड़के-लड़कियाँ और बहू-दामाद—किसी को भी यह बात याद नहीं। भाई, इसी का नाम है दुनिया! अपनी पत्नी के मामले में मुझे सारी दुनिया की खासी पहचान हो चुकी है। जिनको मैं बिलकुल अपना समझा करता था, उनका असली चेहरा भी मैं देख-परख चुका हूँ। इस दुनिया में कोई किसी का नहीं है भाई! मेरी यह बात तुम गाँठ में बाँधकर रख लो विपिन...।

इस बात के कुछ दिनों बाद से ही सुखमय आहिस्ता-आहिस्ता न जाने क्यों म्रियमाण-सा होने लगा था। मानो भीतर-ही-भीतर वह पूरी तरह टूट चुका था। उसके चेहरे पर हताशा और परेशानी के चिह्न नजर आने लगे थे।

मैं पूछता—तुमने अपनी यह कैसी हालत बना रखी है सुखमय? तबीयत तो ठीक है न?

सुखमय कहता—मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लगता भाई!

—क्यों? अच्छा क्यों नहीं लगता? आखिर हुआ क्या है?

सुखमय कहता—अपना दुखड़ा तुम्हें क्या सुनाऊँ भाई! मेरी दुनिया तो रेगिस्तान बनकर रह गई है!

मैं कहता—सो तो तुम्हारी पत्नी की मृत्यु के बाद ही तुम्हारी दुनिया रेगिस्तान बन चुकी है। अब और कौन-सी नयी मुसीबत आ गई है? अब कैसी विपदा आ गई भाई? रुपये-पैसों का नुकसान हो गया क्या? या फिर कारोबार में घाटा लग गया है।

सुखमय कहता—रुपये-पैसों की समस्या से पीड़ित मैं कभी भी नहीं रहा। रही कारोबार की बात...! सो लड़के कारोबार को अच्छी तरह ही चला रहे हैं। मैं तो अपनी पारिवारिक समस्या की चर्चा कर रहा था।

मैं पूछता—तुम्हारी पारिवारिक समस्या भला और क्या होगी?

सुखमय कहता—मेरी स्त्री के मरने के बाद से ही यह समस्या शुरू हो गई थी। लेकिन इतने दिनों तक इसके बारे में मैंने तुमसे कुछ कहा नहीं। यह समस्या अब धीरे-धीरे बढ़कर पहाड़-सी हो चुकी है। इसीलिए मैं आज इसके बारे में तुमसे सब कुछ कह दूँगा...।

मैं पूछ बैठता—लेकिन आखिर समस्या क्या है?

सुखमय कहता—भाई, तुम्हें मैं क्या बताऊँ! घर पर मेरा हर सुख-चैन छिन गया है।

—सो किस तरह ?

सुखमय ने कहा—यूँ देखो तो कहने को बहुत सारी बातें हैं।

मैंने कहा—कह डालो न भाई ! मेरे हाथ में अभी काफी वक्त है।

सुखमय ने कहा—जानते हो भाई, आजकल घर पर कोई भी मेरी फिक्र नहीं करता।

मैंने कहा—क्यों, तुम्हारे घर पर तो बेटे-बहू और नौकर-नौकरानियाँ सभी हैं। तुम्हारी कोई फिक्र नहीं करेगा, ऐसा क्यों ?

सुखमय की दोनों आँखें भर आईं।

उसने कहा—घर पर बेटे-बहू और नौकर-नौकरानियाँ सभी हैं—यह सच है। मेरे रुपयों के बल-बूते पर ही घर चल रहा है। सभी मेरे रुपयों से ही खाते-पहनते हैं। लेकिन फिर भी मेरी सुख-सुविधाओं को देखने वाला कोई नहीं है।

—इसका मतलब !

—मतलब यह कि मैं अब बूढ़ा हो चुका हूँ। निकम्मा हो चुका हूँ। पहले मेरी पत्नी जीवित थी। वही मेरी सुख-सुविधाओं का ध्यान रखा करती थी। लेकिन भला अब मेरा ख्याल रखने की किसे गरज रह गई है ?

कहते-कहते सुखमय ने रुमाल से अपने आँसू पोंछ डाले।

उसके बाद उसने कहा—इस रुमाल को ही देख लो। सात दिनों से कह रहा हूँ कि इस रुमाल को साबुन से साफ कर दो। लेकिन सभी ने मेरी बात अनसुनी कर दी। पहले मेरी पत्नी खुद मेरी बनियान, मेरा जाँघिया और रुमाल साबुन से साफ कर देने की व्यवस्था कर देती थी। उस समय इन सब छोटी-छोटी बातों के बारे में सोचने की मुझे जरूरत ही नहीं पड़ती थी। और अब ? अब तो मैं कितना ही चीखता-चिल्लाता रहूँ, किसी के कानों पर जूँ भी नहीं रेंगती। उस पर मजा यह कि घर का सारा खर्च मेरे रुपयों की बदौलत चल रहा है। मेरे रुपयों के बल-बूते पर ही तो सभी की नवाबी चल रही है।

मुझे इस बात से सहमत होना ही पड़ा कि सचमुच सुखमय के ऊपर दुखों का पहाड़ टूट पड़ा था।

मैंने कहा—सचमुच तुम्हारी तकलीफों का कोई ओर-छोर नहीं। सो अब तुम कर भी क्या सकते हो, तुम्हीं बताओ ! तुम्हारे अपने बेटे-बहू हैं। उनसे तो तुम कुछ कह पाओगे नहीं। ये सारी तकलीफें तुम्हें चुपचाप सहन करनी ही होंगी। इसके सिवाय और दूसरा कोई उपाय भी क्या है ?

मेरी सान्त्वना-भरी बातें सुनकर मानो सुखमय को थोड़ी-सी शान्ति मिली।

कुछ देर की चुप्पी के बाद उसने भरे गले से कहा—अब घर चलता हूँ भाई। घर को छोड़कर इतनी बड़ी धरती पर मेरे लिए कोई दूसरा ठौर-ठिकाना भी तो नहीं। पुराना जमाना होता तो शायद जंगल में चला जाता। जंगल में जाकर ही वहाँ अपना डेरा जमाता। लेकिन अब तो वह जमाना भी नहीं रहा। अब तो सारे जंगल काटकर साफ कर दिये गये हैं। दण्डकारण्य का नाम तो तुमने जरूर सुना होगा। कहते हैं कि

सरकार ने उसे भी कटवा कर खेत बना डाले हैं।

मैंने पूछा—क्या तुम कलकत्ता छोड़कर और कहीं जाना चाहते हो ?

सुखमय ने कहा—मैं कहाँ जाऊँ, यह तुम्हीं बतला दो भाई।

मैंने कहा—काशी में एक संस्था है। उसका नाम है 'मुमुक्षु भवन'। वहाँ पर तुम्हारे सरीखे लोगों के लिए उपयुक्त व्यवस्था है।

सुखमय ने पूछा—सो किस तरह ?

—वहाँ रुपये जमा करा देने पर भवन वाले ही तुम्हारे रहने और खाने-पीने की सारी व्यवस्था कर देंगे। जब तुम्हारे पास रुपयों की कमी नहीं, तो फिर तुम्हें फिक्र ही किस बात की है ? शेष जीवन तुम आराम के साथ बिता सकोगे। काशीवास का तुम्हें पुण्य भी मिलेगा और काशी की बेहतरीन आबोहवा से तुम्हारी तन्दुरुस्ती भी सुधर जायेगी। बोलो, जाओगे क्या ?

कुछ पलों के लिए सुखमय सोच-विचार में डूब गया। उसके बाद उसने कहा—मैं तुम्हें सोचकर बताऊँगा।

यह कहकर वह भारी मन से अपने घर लौट गया।

दूसरे दिन फिर सुखमय मेरे पास यथासमय चला आया। उसके चेहरे पर उसी तरह परेशानी की छाप थी।

मैंने पूछा—तो फिर तुमने क्या तय किया ?

सुखमय ने कहा—भाई, अभी तक मैं कोई निर्णय नहीं ले पाया हूँ।

उसके बाद वाले दिन भी सुखमय नियमानुसार हाजिर हो गया। उसके बाद फिर दूसरे दिन भी।

इसी तरह लगभग एक महीने का वक्त गुजर गया। फिर भी सुखमय उसी तरह अनिश्चय का शिकार बना रहा। तब तक वह कोई ठोस निर्णय नहीं ले पाया था।

मैंने पूछा—इन दिनों तुम्हारी कैसी गुजर रही है सुखमय ?

सुखमय ने कहा—पहले की तरह ही।

मैंने पूछा—क्या तुम्हारे ऊपर होने वाले अत्याचारों में कुछ कमी आई है ?

—कतई नहीं। अत्याचारों में कमी कभी होगी भी नहीं।

मैंने कहा—परिस्थितियों से थोड़ा-सा समझौता करके चलो भाई। दुनिया में जिन्दा रहने के लिए समझौते करने ही पड़ते हैं। यही है दुनिया का नियम।

सुखमय ने कहा—नहीं भाई, नहीं। मैं ढेरों कोशिशें करके देख चुका हूँ। समझौते करके भी देख चुका हूँ। लेकिन इन समझौतों का उलटा ही नतीजा निकला है।

मैंने पूछा—सो कैसे ?

सुखमय ने कहा—तो फिर सारी बातें खोल कर ही कहता हूँ। तुम तो जानते ही हो भाई कि जाड़े के मौसम में ठंडक बर्दाश्त करना मुश्किल होता है। जब मेरी पत्नी जीवित थी, उस समय मुझे ठीक वक्त पर स्नान करने के लिए गरम पानी मिल जाया करता था। उस दिन मैंने महाराज से पानी गरम कर देने के लिए कहा। मेरी बातों के जवाब में महाराज ने क्या जवाब दिया, जानते हो ? उसने साफ-साफ कह दिया—इस

समय छोटे साहब का खाना पका रहा हूँ, इस समय पानी-वानी गरम नही होगा…।

मैंने कहा—यह क्या ? तुम्हारे अपने महाराज ने तुम्हारे मुंह के ऊपर ऐसा जवाब दे दिया ? तुम्हारी बहुओ ने क्या कुछ भी नही कहा ?

सुखमय बोला—बहुएँ आखिर क्यों बोलेंगी ? वे तो पराये घर की बेटियाँ हैं। भला उनको क्या गरज पड़ी है ?

मैंने कहा—यह तुम क्या कह रहे हो सुखमय ?

सुखमय ने जवाब दिया—हाँ भाई, तुम्हारे सिवाय अपना दुखड़ा सुनाऊँ भी किसे ? तुम्हारे सिवाय मेरे दुःखो को और दूसरा समझ भी कौन सकता है ? मुहल्ले के लोगों को बुला-बुलाकर उनसे तो मैं ये बातें कह सकता नही। इसीलिए भाई, मैं अपने घर से भाग कर सीधे तुम्हारे घर पर चला आता हूँ और सुख-दुख की बातें सुनाकर जी हल्का करने की कोशिश करता हूँ।

कुछ देर रुककर सुखमय फिर कहने लगा—और क्या सिर्फ गर्म पानी ? जानते हो भाई, एक दिन मैंने नौकर से कहा—आज बाजार जाकर केले का फूल खरीद कर ले आओ। आज उसी की सब्जी बनेगी।…जितने दिनो तक मेरी पत्नी जीवित थी, तब तक वह केले के फूल और कच्चू-पत्ते की सब्जियाँ मेरे लिए विशेष रूप से बनाया करती थी। वह जानती थी कि मैं इन सब्जियों को कितना पसन्द करता हूँ। और फिर उन सब्जियों को खाने से तन्दुरुस्ती भी ठीक रहती है। क्यो, ठीक कह रहा हूँ न ? सो वह नौकर जब बाजार से लौटा, तब मैंने देखा कि वह केले का फूल नही लाया था। मैंने उससे पूछा—क्या तुम बाजार से केले का फूल खरीद कर नही लाये ? सो उसने मेरे सवाल के जवाब मे क्या कहा, जानते हो ?

—क्या ?

सुखमय कहने लगा—नौकर ने जवाब दिया कि बडे साहब ने केले का फूल लाने के लिए मना कर दिया है। मैंने अपने बडे लडके से इसके बारे मे पूछा। मेरे सवाल के जवाब मे मेरे बड़े लडके शिवदत्त ने कहा—घर मे कोई भी केले के फूल की सब्जी खाना पसन्द नही करता। फिर खामख्वाह ऐसी सब्जी लाने से क्या फायदा ?…अब तुम खुद ही मेरी हालत का अन्दाज लगा लो।

इस तरह के कितने उदाहरण सुखमय पेश किया करता, उनकी कोई गिनती न थी। वे सारे के सारे उदाहरण आज मुझे याद भी नही।

आखिरकार एक दिन मैंने सुखमय से कहा—मैंने तुम्हे जो सलाह दी थी, तुम वैसा ही करो।

—क्या ?

मैंने कहा—मैं तो तुम से कह ही चुका हूँ कि तुम काशी चले जाओ। वहाँ तुम्हारे जैसे बूढ़े आदमियो के लिए ही बिड़ला-बन्धुओं ने 'मुमुक्षु-भवन' नाम का आश्रम बनवा दिया है। काशी में सारी चीजें सस्ती मिलती हैं। और फिर वहाँ पाताल—रेल का काम भी नहीं चल रहा है। धूल, धुआँ और डीजल-पेट्रोल की दुर्गन्ध—कुछ भी नही है वहाँ। और फिर वह कानों को बहरा बना देने वाला शोर-गुल भी नही। खर्च भी है मामूली

ही। हरेक दिन तुम वहाँ गंगा-स्नान कर सकोगे। तुम्हारी परमायु बढ़ जायेगी काशी में। कलकत्ते की तरह गला काटने वाले नर्सिंग होमों का झमेला भी वहाँ नहीं। कितना आराम है वहाँ। तुम खुद ही सोच-समझ कर देख लो।

सुखमय कुछ देर तक सोच-विचार में डूबा रहा। उसके बाद उसने कहा—सोच-समझ कर मैं तुम्हें जवाब दूंगा।

यह कहकर सुखमय चला गया।

उसके बाद बहुत दिनों तक सुखमय के साथ मेरी मुलाकात नहीं हुई। मैं सोचने लगा कि कहीं उसकी तबीयत तो खराब नहीं हो गई है!

हठात् एक दिन सुखमय मेरे घर पर आ धमका। मैंने देखा कि उसका चेहरा खिला हुआ था। बड़ा खुश नजर आ रहा था वह।

मैंने पूछा—क्यों भाई, आखिर मामला क्या है? आज तो तुम्हारे अंग-अंग से खुशी फूट रही है। क्यों, तुमने क्या निर्णय लिया? क्या तुम काशी जाओगे?

सुखमय आराम से कुर्सी पर बैठ गया।

उसने कहा - नहीं भाई, मैंने तय किया है कि मैं अब काशी नहीं जाऊँगा। काशी जाने पर भी मुझे अपने दुखों से छुटकारा नहीं मिलेगा।

—क्यों?

सुखमय ने कहा—भाई, एक ज्योतिषी जी मेरे पास आये थे।

मैंने पूछा—यह क्या? ज्योतिषी जी।

सुखमय ने कहा—हाँ भाई, ज्योतिषी जी। ज्योतिष-सम्राट्...। वे एक दिन बिना बुलाये ही मेरे घर पर पधार गये। ऐसा लगा मानो खुद भगवान ने ही उन्हें मेरे पास भेज दिया हो। जब ज्योतिषी जी मेरे घर पर पधारे, तो मैंने उन्हें अपनी कुण्डली दिखाई।

मैंने पूछा—जन्म-कुण्डली दिखाने में तुम्हारे कितने रुपये खर्च हुए?

सुखमय ने जवाब दिया—पाँच सौ रुपये। उनकी फीस है पाँच सौ रुपये ही। लेकिन रुपयों की बात छोड़ भी दो। रुपयों की मेरे पास भला क्या कमी है? सो उन्होंने क्या कहा, जानते हो?

—क्या?

सुखमय ने कहा—भाई, ज्योतिषी महोदय ने तो मुझे हैरत में डाल दिया। उन्होंने काफी देर तक मेरी जन्म-कुण्डली देखी और गणना करके मुझे बताया कि मेरी रवि की दशा चल रही है।

—रवि की दशा? इसका मतलब?

सुखमय ने जवाब दिया—सब कुछ सुनोगे तो तुम भी हैरान रह जाओगे। मुझे तो वे जानते-पहचानते नहीं थे, फिर भी मेरी अन्दरूनी खबरें वे कैसे बता सके, बताओ तो?

मैंने पूछा—कौन-सी अन्दरूनी खबरें?

सुखमय ने कहा—उन्होंने मुझे बताया कि मेरी कुण्डली में रवि ग्यारहवें स्थान में है। इसीलिए इस रवि-दशा की वजह से मैं अपने बेटे-बहुओं की ओर से चरम दुख पा

रहा हूँ।

—उसके बाद ? इसके प्रतिकार का कुछ उपाय भी बतलाया क्या उन्होंने ?

सुखमय ने कहा—हाँ, यह देखो, यह अँगूठी उन्होंने मुझे पहनने के लिए दी है। यह कहकर सुखमय ने अपना दाहिना हाथ मेरी तरफ बढा दिया।

मैंने पूछा—यह कौन-सा रत्न है, जो इस अँगूठी मे जडा हुआ है।

सुखमय ने कहा—इस रत्न का नाम है पद्मराग मणि।

मैंने पूछा—इस रत्न के लिए तुम्हें क्या कीमत देनी पडी ?

सुखमय ने कहा—इस रत्न की ही कीमत थी सिर्फ तीन हजार रुपये। असली रत्न जो है ! उसके बाद सोने का दाम अलग लगा। कुल मिलाकर लगभग पाँच हजार रुपये खर्च हो गये।

मैंने पूछा—यह अँगूठी पहनने के बाद क्या तुम्हारे बेटे-बहू तुम्हारी बात सुनेंगे ? क्या वे लोग फिर तुम्हारी सेवा करने लगेंगे ?

सुखमय ने कहा—ज्योतिषी महाराज ने तो यही कहा है कि इसे पहनने पर मेरे ग्रहों की शान्ति होगी। उसके बाद ज्योतिषी जी से मैंने यह भी पूछा कि मुझे पत्नी-सुख क्यो नही है !

मैंने पूछा—तो फिर ज्योतिषी जी ने क्या जवाब दिया ?

सुखमय ने कहा—ज्योतिषी जी बोले कि कुण्डली के अनुसार मुझे पत्नी-सुख है। मैंने पूछा—तो फिर मेरी पत्नी की मृत्यु कैसे हो गई ?

—तब ? तब उन्होंने क्या उत्तर दिया ?

सुखमय ने कहा—ज्योतिषी जी ने बताया कि मेरी कुण्डली मे दो शादियो का योग है। उनके अनुसार मेरी फिर मे शादी होगी।

यह सुनने के बाद मेरे मुँह से एक भी शब्द नही निकला।

सुखमय ने पूछा—भाई, तुम्हारी क्या राय है ? इस उम्र मे क्या मैं फिर से अपना ब्याह रचाऊँगा ?

मैं भला क्या कहता ? मैं चुप ही रहा।

सुखमय ने फिर पूछा—क्यो भाई, तुम चुप क्यो हो ? बताओ न, क्या मैं शादी करने के लिए तैयार हो जाऊँ ?

मैंने कहा—तुम्हें तो ज्योतिषी महोदय ने कह ही दिया है कि तुम्हारी फिर से शादी होगी !

मेरी तरफ से समर्थन पाकर सुखमय प्रसन्नचित्त हो मेरे घर से विदा हुआ। उसके मुँह पर इतनी खुशी की आभा मुझे पहले कभी भी दिखाई नही दी थी।

इसके बाद करीब एक महीने तक सुखमय मेरे घर पर नही आया।

हठात् एक दिन सुखमय का बडा लडका शिवपद हैरान-परेशान-सा मेरे घर पर हाजिर हो गया।

मैंने पूछा—क्या बात है बेटे ? पिताजी कैसे हैं, बताओ ? क्या हाल-चाल है उनका ? बहुत दिनों से वे मेरे घर पर नहीं आये। वे अच्छे तो हैं न ?

शिवपद तब तक बुरी तरह हांफ रहा था।

उसने कहा—बड़ी मुसीबत में पड़ गया हूँ काका बाबू। इसीलिए मुझे आपके पास आना पड़ा है।

मैंने पूछा—क्यों, क्या बात है ? तुम्हारे पिताजी की तबीयत ठीक नहीं है क्या ?

शिवपद ने कहा—नहीं, ऐसी बात नहीं। दरअसल पिताजी फिर से शादी करना चाहते हैं···।

मैंने ऐसा प्रगट किया मानो मुझे उसकी बातों से भारी ताज्जुब हुआ हो !

मैंने कहा—यह तुम क्या कह रहे हो ? शादी ? तुम्हारे पिता जी···?

शिवपद ने कहा—जी हां, यही तो मुसीबत है।

मैंने कहा—छिः छः, तुम्हारे पिता जी का दिमाग तो कहीं खराब नहीं हो गया है !

शिवपद ने कहा—सो आप खुद ही समझिए। हम लोग दोनों भाई सयाने हो चुके हैं। हम दोनों की शादी भी हो चुकी और बाल-बच्चे भी हो चुके हैं। लेकिन अब पिताजी ने यह कठिन प्रतिज्ञा कर ली है कि वे शादी करके ही रहेंगे।

मैंने खूब ही परेशान होने का अभिनय करते हुए पूछा—लेकिन तुम्हारे पिताजी की ऐसी इच्छा हुई ही कैसे ?

शिवपद ने कहा—इसके बारे में तो हम लोगों से ज्यादा आप ही जानते होंगे। पिताजी तो पूरे मुहल्ले में बोलने-बतियाने के लिए आप ही के पास आया करते हैं। आपके घर के सिवाय पिताजी और कहीं भी जाते नहीं। क्या पिताजी ने इस सम्बन्ध में आपको कोई आभास नहीं दिया ?

मैंने पूरी तौर पर झूठ कह दिया—तुम्हारे पिताजी ने इसके बारे में हल्का-सा इशारा तक नहीं किया कि वे शादी करने जा रहे हैं। मैं तो पहले-पहल तुम्हारे मुँह से ही ये बातें सुन रहा हूं। लगता है कि तुम्हारे पिताजी इस बुढ़ापे में सठिया गये हैं।

शिवपद ने पूछा—क्या मैं पिताजी को एक बार आपसे मिलने के लिए कहूँ ?

मैंने कहा—सो तुम कह सकते हो। यदि वे मेरे पास आयें, तो मुझे खुशी ही होगी।

शिवपद ने कहा—मैं आपके पैरों पड़ता हूँ काका बाबू। आप पिताजी को भली-भांति समझा दीजिए। नहीं तो इस खबर के फैल जाने पर हम लोगों की कैसी दुर्दशा होगी, यह खुद आप ही सोचकर देख लीजिए। मेरी ससुराल वाले हैं, भाई और बहन की ससुराल वाले हैं तथा और भी बहुत-से सगे-सम्बन्धी हैं। जब उन्हें इस बात का पता चलेगा तो वे लोग क्या कहेंगे ! उसके बाद हैं मुहल्ले के लोग। वे इस खबर को नमक-मिर्च लगाकर सबों से सुनाने से बाज नहीं आयेंगे। हमारे परिवार की कितनी बदनामी होगी, आप ही सोचिए।

मैंने कहा—सो तो है ही बेटे ! तुम कल ही अपने पिताजी को एक बार मेरे घर पर भेज दो। मैं उन्हें शादी करने से मना कर दूंगा। यह बात जरूर है कि मेरी बातें मानना

या न मानना तुम्हारे पिताजी के ऊपर ही निर्भर है।

शिवपद चला गया।

और उसके ठीक दूसरे दिन ही सुखमय सरकार मेरे सामने हाजिर था। उसके अंग-प्रत्यंग से प्रसन्नता फूट रही थी।

मैंने पूछा—इतने दिनों तक तुम कहाँ गायब रहे?

सुखमय ने जवाब दिया—भाई, पूरे महीने भर मैं बहुत व्यस्त रहा। आज शिवपद ने मुझसे कहा कि तुमने मुझे बुलाया है। इसीलिए मैं दौड़ा चला आया।

मैंने कहा—हाँ, बहुत दिनों से तुम्हारा कोई कुशल-समाचार नहीं मिला। मैंने सोचा कि कहीं तुम्हारी तबीयत तो खराब नहीं हो गई! तो तुम ऐसे कौन-से राजकार्य में व्यस्त हो गये थे, जरा मैं भी तो सुनूँ!

सुखमय हँसने लगा। एक तृप्ति-भरी और रहस्यमयी हँसी···!

सुखमय ने हँसते-हँसते कहा—तुम से क्या छिपा हुआ है भाई? तुमसे तो मैं अपनी सारी बातें कह दिया करता हूँ। भाई, मैंने अपनी शादी का पूरा बन्दोबस्त कर लिया है।

उसके बाद कुछ रुककर उसने फिर कहा—क्या मैंने कुछ अनुचित किया है, तुम्हीं बताओ?

मैंने कहा—नहीं-नहीं, इसमें कुछ अनुचित भला क्या है? जब ज्योतिष-सम्राट् महोदय ने तुमसे कह ही दिया है कि तुम्हारी कुण्डली में एकादश स्थान में रवि है और तुम्हें अपने बेटे-बहुओं से हमेशा दुख ही मिलेगा, तो फिर शादी करने का निर्णय लेकर तुमने ठीक ही किया है। और फिर जब ज्योतिष-सम्राट् ने कह ही दिया है कि तुम्हारी कुण्डली में द्विविवाह का योग है, तब फिर तुम शादी करोगे ही—जरूर करोगे।

सुखमय ने कहा—यार, जाने भी दो। तुम जब मेरी शादी का समर्थन कर रहे हो, तो फिर मुझे दुनिया के और किसी भी आदमी की परवाह नहीं। मेरे लड़के, बहुएँ और बेटी-दामाद चाहे जो भी कहें, मैं किसी की भी परवाह नहीं करूँगा। आइ डोन्ट केअर एनी बडी···।

मैंने कहा—बेशक। तुम शादी कर रहे हो, बिल्कुल ठीक कर रहे हो। खैर, लड़की कैसी है?

सुखमय ने कहा—लड़की अच्छी है। देखने में भी बुरी नहीं। बस, एक ही बात है। उम्र उसकी जरा कम है। लेकिन उसका स्वास्थ्य बहुत बढ़िया है।

मैंने कहा—सो लड़की वाले तुम्हारे साथ अपनी लड़की की शादी करने के लिए राजी कैसे हुए? तुम्हारे तो लड़के-लड़कियाँ और नाती-पोते सभी हैं। यह सब जानते हुए भी वे तैयार कैसे हो गये?

सुखमय ने जवाब दिया—दरअसल वे लोग बेहद गरीब हैं। मैंने लड़की के नाम से बैंक में तीन लाख रुपये 'फिक्स्ड डिपोजिट' में जमा करवा दिए हैं। लड़की के पिता को भी मैंने नगद एक लाख रुपये दिये हैं। दुनिया में जितने भी झगड़े हैं, वे रुपयों को लेकर ही तो हैं। जानते नहीं; बाप बड़ा न भइया, सबसे बड़ा रुपइया··· [illegible]

मिलने के वाद वे लोग राजी क्यों नहीं होते ?

उसके वाद कुछ रुककर सुखमय ने फिर पूछा—क्या मैंने कुछ गलत किया है ?

मैंने जवाव दिया—नही भाई, तुमने ठीक किया है । विल्कुल ठीक···।

शादी के मामले में सुखमय का उत्साह वढ़ाने में मैंने अपनी तरफ से कोई भी कसर वाकी नहीं रखी । इस प्रसंग में मुझे खूव ही मजा आ रहा था ।

जाने के पहले सुखमय ने कहा—फिर भी मैं एक वात कह चुका हूँ कि शादी में कोई धूम-धड़क्का नहीं होगा । मेरे वेटे-वहू और वेटी-दामाद—सभी इस शादी के लिए राजी हो गये हैं ।

मैंने कहा—तुम ठीक ही कह रहे हो । तुम्हारे लिए यह कोई खुशी की शादी तो है नहीं । यह शादी तो तुम्हें लाचार होकर करनी पड़ रही है । तुम्हारे वेटे-वहू तुम्हारी उचित देख-भाल नहीं करते, इसीलिए तुम्हें यह शादी करनी पड़ रही है । सो शादी में धूम-धड़क्का नहीं करने का तुम्हारा फैसला वाजिव ही कहा जायेगा ।

मेरी वातों से खुश होकर सुखमय चला गया । जाते वक्त उसने कहा—इस शादी में खिलाने-पिलाने की कोई व्यवस्था नहीं होगी भाई । इस वात का तुम बुरा मत मानना···।

इस घटना के दो-तीन दिनों के वाद हठात् एक दिन सुखमय का लड़का शिवपद रोते-रोते हड़वड़ा कर मेरे घर पर आया । उसने कहा—अव क्या होगा काका वावू ? पिताजी ने तो शादी का मुहूर्त्त भी पक्का करवा लिया ।

मैंने कहा—हाँ, तुम्हारे पिताजी दो-तीन दिन पहले मेरे घर पर आये थे । वे मुझे सभी कुछ वता गये हैं ।

शिवपद ने कहा—आप पिताजी को मना नहीं कर सके ?

मैंने कहा—मैंने तो तुम्हारे पिताजी को वार-वार मना किया । मैंने कहा—यह शादी मत करो सुखमय । इस शादी से जग-हँसाई के सिवाय और कुछ भी हासिल होने वाला नहीं । सभी तुमसे कहेंगे—वुड्ढा वौराया शादी में । लेकिन तुम्हारे पिता जी ने मेरी एक न सुनी । इसके वाद मैं और क्या करता, तुम्ही वताओ । आखिरकार तुम्हारे पिताजी मुझे खरी-खोटी सुनाकर चले गये । सच्ची वात कहूँ तो सुनो, तुम्हारे पिताजी इस वुढ़ापे में सठिया गये हैं ।

मेरी वातों के जवाव में भला शिवपद और क्या कहता ? उसके मन की हालत उस समय वड़ी खराव थी । मैं समझ रहा था कि अपने पिता के इस काण्ड से वह नितांत अस्थिर हो उठा था ।

जाते-जाते शिवपद ने कहा—जानते हैं काका वावू, मेरे पिताजी ने क्या किया है ?

—क्या ?

शिवपद ने कहा—पिताजी ने लड़की के नाम पर बैंक में तीन लाख रुपये 'फिक्स्ड डिपोजिट' में जमा करवा दिये हैं ।

मैंने ऐसा भाव दिखाया जैसे मानो मुझे कुछ पता ही न हो । मैंने पूछा—क्या

सचमुच ? तुम्हारे पिताजी ने तो इस सम्बन्ध मे मुझे एक शब्द भी नही बताया।

शिवपद फिर रुका नही। वह तेजी से कदम बढ़ाता हुआ अपने घर की तरफ चला गया।

उसके बाद और कई दिनों तक सुखमय मेरे घर पर नही आया। सिर्फ एक दिन वह थोड़ी देर के लिए आया था। इस्तरी किये हुए धोती-कुरते मे वह खूब ही जँच रहा था। दाढ़ी भी बनी हुई थी। चेहरे पर हँसी थी। उसने कहा—शादी हो गई है भाई।

उसके बाद कुछ रुककर उसने कहा—जानते हो भाई, मेरी पत्नी देखने मे खूब सुन्दरी भले ही नही; लेकिन बड़ी इन्टेलिजेण्ट है वह।

मैंने मजा लेते हुए पूछा – तब तो हुजूर की देख-भाल अब अच्छी तरह हो रही होगी।

सुखमय ने कहा—हाँ भाई, तुमने जो कुछ कहा था, वही हुआ है। अगर तुमने जोर नही दिया होता, तो मैं यह शादी करता ही नही। पहले मुझे शादी की बात सोचने में भी शर्म आती थी ; जो कुछ भी हुआ है, तुम्हारी बदौलत ही हुआ है।

मैंने पूछा—बेटे-बहू नयी मां को पाकर खुश तो हैं न ?

सुखमय ने कहा—वे सब विशेष खुश नहीं हैं। इसकी वजह यह है कि उनके हाथ से बहुत-से रुपये निकल चुके हैं। लेकिन मुँह खोलकर कोई एक शब्द भी नही कह पा रहा है। उन्हें डर भी तो है कि किसी भी क्षण मैं उन्हें त्याज्य पुत्र घोषित कर सकता हूँ। इसलिए मैं हर वक्त तिजोरी की चाबी अपनी मुट्ठी में ही रखता हूं।

उसके बाद कुछ रुककर उसने पुनः कहा—चलता हूँ भाई। आज मैं जरा हड़बड़ी मे हूँ। खा-पीकर आज अपनी श्रीमती जी के साथ मैटिनी शो मे पिक्चर देखने का प्रोग्राम है। पिक्चर का नाम है—"खेल-खेल मे।"

यह कहकर सुखमय चला गया।

मैं हैरान होकर सोचने लगा—यही है आदमी की जिन्दगी। जो सुखमय अपनी पहली पत्नी की याद मे हर क्षण खोया रहता था, वही अब उसकी समस्त स्मृतियाँ आसानी से भुला चुका है।

सुखमय की शादी हुए एक पखवाड़ा भी नही बीता था कि हठात् एक दिन सवेरे दस बजे शिवपद दौड़ते-दौड़ते मेरे घर पर आ धमका।

शिवपद के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थी। उसे देखते ही मुझे डर लगने लगा।

मैंने पूछा—क्या समाचार है शिवपद ? हठात् तुम ?

शिवपद ने कहा—आप इसी क्षण मेरे घर पर चलिए काका बाबू।

—क्यों ? क्या हुआ ?

शिवपद बहुत ही घबडाया हुआ था। खूब ही जल्दबाजी मे भी था वह'''।

उसने कहा – सवेरे से ही पिताजी अपने कमरे का दरवाजा नही खोल रहे है

—यह क्या ? क्या मामला है आखिर ? लेकिन अगर वे दरवाजा नहीं खोल र

हैं, तो भला मैं क्या करूंगा जाकर ?

शिवपद ने कहा—आपके पुकारने पर हो सकता है कि वे दरवाजा खोल दें।

मैंने पूछा—और तुम्हारी मां ? तुम्हारी नयी माँ ?

—नयी माँ भी कमरे के भीतर ही है।

मैंने पूछा—क्या तुमने पुलिस को खबर दी है ?

शिवपद ने कहा—मेरा छोटा भाई शशिपद पुलिस-स्टेशन गया है। उसे पुलिस-स्टेशन भेजकर मैं सीधा आपके पास आया हूँ।

शिवपद की बातें सुनकर मैं बहुत घबड़ा गया। झट-पट कपड़े बदलकर मैं शिवपद के साथ उसके घ र की तरफ चल पड़ा।

सुखमय का मकान मेरे मकान से पच्चीस-तीस मकानों के बाद था। वहाँ जाकर मैंने पाया कि वहाँ अस्वाभाविक स्तब्धता व्यापी हुई थी। घ र के सारे लोगों को मानो किसी ने जादू की छड़ी छुआ दी थी। सभी मानो निर्जीव पुतलों में बदल गये थे।

शिवपद झट-पट मुझे अपने पिता के शयन-कक्ष के सामने ले गया। मैंने देखा कि कमरे का दरवाजा भीतर से बन्द था। मैंने दरवाजे को ठेलकर खोलने की कोशिश की, लेकिन दरवाजा नहीं खुला।

तब मैं चिल्लाकर पुकारने लगा—सुखमय···। ओ सुखमय। सुखमय, देखो मैं विपिन हूँ। दरवाजा खोलो···। झट-पट दरवाजा खोलो।

भीतर से फिर भी कोई जवाब नहीं मिला।

शिवपद भी जोर-जोर से पुकारने लगा—पिताजी, ओ पिताजी···। दरवाजा खोलिए।

फिर भी भीतर से कोई जवाब नहीं मिला।

इसी समय शशिपद पुलिस-इन्सपेक्टर को साथ लेकर आया। वे भी धक्का देकर दरवाजे को खोलने की कोशिश करने लगे। लेकिन कोई भी नतीजा नहीं निकला।

आखिरकार थाने के पुलिस-इन्सपेक्टर महोदय ने कहा— दरवाजा तोड़ना होगा। अगर कोई सब्बल या लोहे की कोई मोटी छड़ हो तो लाइए···।

एक सब्बल मँगाई गई। कांस्टेबलों के द्वारा उस सब्बल से लगातार दरवाजे पर आघात करने पर आखिरकार दरवाजे का एक पल्ला टूटकर गिर पड़ा।

उसके बाद उस अधखुले दरवाजे की फाँक से मैंने जो कुछ देखा, उसे शब्दों में बयान नहीं किया जा सकता। बिछौने के ऊपर सुखमय की नग्नप्राय देह निष्प्राण होकर पड़ी थी। और कमरे के एक कोने में खड़ी सुखमय की नवविवाहिता पत्नी लाज के मारे छुई-मुई होकर साड़ी के आँचल से मुँह ढँपे थर-थर काँप रही थी और संभवत: निःशब्द रूप से रो रही थी···।

मुझे यह समझते देर न लगी कि काम-केलि की क्लान्ति सुखमय के लिए चिर-शान्ति का पर्याय बन चुकी थी।···बूढ़ा पतंगा यौवनोन्मत्त दीप-शिखा की प्रचण्ड आँच में झुलस गया था। न जाने क्यों, फिर तो पल भर में मेरे मन के आकाश पर अपराध-बोध के बेशुमार बादल घिर आये।

उस वीभत्स दृश्य को देखने के बाद मैं वहाँ और एक पल के लिए भी नहीं रुक सका। किसी तरह लगभग पवन-वेग से भागकर मैंने अपने घर में प्रवेश किया और मानो वहाँ अपने-आपको आत्मगोपन कर मैंने आत्मरक्षा की!

काशी के 'मुमुक्षु भवन' के एक कमरे में बैठे कहानी सुनाते-सुनाते विपिन बाबू हठात् रुक गये।

मैंने पूछा—उसके बाद?

विपिन बाबू ने कहा—उसके बाद एक दिन जब मेरी पत्नी का भी देहावसान हो गया, तब मुझे जिसकी बात सबसे पहले याद आई, वह सुखमय ही था। सुखमय की मर्मान्तिक परिणति को ध्यान में रखते हुए ही मैं सीधा इस 'मुमुक्षु भवन' में चला आया हूँ। तब से मैं यहीं 'मुमुक्षु भवन' ही में हूँ। लेकिन यहाँ आने के बाद भी सुखमय के हाथों से मुझे मुक्ति नहीं मिल पाई है। सुखमय ने यहाँ भी मेरा पीछा नहीं छोड़ा है। बीच-बीच में सुखमय का वही चेहरा मेरी आँखों के सामने तैरने लगता है और मैं मारे अनुताप के क्षत-विक्षत हो जाता हूँ। मैंने ही तो उसे दुबारा शादी करने के लिए उत्साहित किया था। सचमुच विमल, मैंने ही सुखमय की हत्या की है। सुखमय के जैसे एक ईमानदार और निर्दोष आदमी की हत्या की है। लेकिन ताज्जुब की बात तो यह है कि न तो मुझे फाँसी हुई और न ही मुझे आजीवन कारावास की सजा मिली। और मैं ऐसा पाखण्डी हूँ कि मैं इस मानव-समाज में निर्दोष आदमी का मुखौटा लगाए एवं सिर ऊँचा किये बेरोकटोक घूम रहा हूँ। कोई नहीं जानता कि मैं एक खूनी हूँ।

मैंने कहा—आखिर इस बात के लिए इतने पश्चात्ताप का क्या कारण है विपिन बाबू? सुखमय ने तो ज्योतिष-सम्राट् महोदय की सलाह के अनुसार ही दुबारा शादी की थी। इसमें आपका क्या कसूर?

विपिन बाबू ने आहें भरते हुए कहा—लेकिन भाई, खुद मैंने ही तो मजाक करने के लिए—यूँ ही खेल-खेल में—उस ज्योतिष-सम्राट् को सिखा-पढ़ाकर सुखमय के पास भेज दिया था।

हैं, तो भला मैं क्या करूंगा जाकर ?

शिवपद ने कहा—आपके पुकारने पर हो सकता है कि वे दरवाजा खोल दें।

मैंने पूछा—और तुम्हारी मां ? तुम्हारी नयी माँ ?

—नयी माँ भी कमरे के भीतर ही है।

मैंने पूछा—क्या तुमने पुलिस को खबर दी है ?

शिवपद ने कहा—मेरा छोटा भाई शशिपद पुलिस-स्टेशन गया है। उसे पुलिस-स्टेशन भेजकर मैं सीधा आपके पास आया हूँ।

शिवपद की बातें सुनकर मैं बहुत घबड़ा गया। झट-पट कपड़े बदलकर मैं शिवपद के साथ उसके घ र की तरफ चल पड़ा।

सुखमय का मकान मेरे मकान से पच्चीस-तीस मकानों के बाद था। वहाँ जाकर मैंने पाया कि वहाँ अस्वाभाविक स्तब्धता व्यापी हुई थी। घर के सारे लोगों को मानो किसी ने जादू की छड़ी छुआ दी थी। सभी मानो निर्जीव पुतलों में बदल गये थे।

शिवपद झट-पट मुझे अपने पिता के शयन-कक्ष के सामने ले गया। मैंने देखा कि कमरे का दरवाजा भीतर से बन्द था। मैंने दरवाजे को ठेलकर खोलने की कोशिश की, लेकिन दरवाजा नहीं खुला।

तब मैं चिल्लाकर पुकारने लगा—सुखमय···। ओ सुखमय। सुखमय, देखो मैं विपिन हूँ। दरवाजा खोलो···। झट-पट दरवाजा खोलो।

भीतर से फिर भी कोई जवाब नहीं मिला।

शिवपद भी जोर-जोर से पुकारने लगा—पिताजी, ओ पिताजी···। दरवाजा खोलिए।

फिर भी भीतर से कोई जवाब नहीं मिला।

इसी समय शशिपद पुलिस-इन्सपेक्टर को साथ लेकर आया। वे भी धक्का देकर दरवाजे को खोलने की कोशिश करने लगे। लेकिन कोई भी नतीजा नहीं निकला।

आखिरकार थाने के पुलिस-इन्सपेक्टर महोदय ने कहा— दरवाजा तोड़ना होगा। अगर कोई सब्बल या लोहे की कोई मोटी छड़ हो तो लाइए···।

एक सब्बल मँगाई गई। कांस्टेबलों के द्वारा उस सब्बल से लगातार दरवाजे पर आघात करने पर आखिरकार दरवाजे का एक पल्ला टूटकर गिर पड़ा।

उसके बाद उस अधखुले दरवाजे की फाँक से मैंने जो कुछ देखा, उसे शब्दों में बयान नहीं किया जा सकता। बिछौने के ऊपर सुखमय की नग्नप्राय देह निष्प्राण होकर पड़ी थी। और कमरे के एक कोने में खड़ी सुखमय की नवविवाहिता पत्नी लाज के मारे छुई-मुई होकर साड़ी के आँचल से मुँह ढँपे थर-थर काँप रही थी और संभवत: निःशब्द रूप से रो रही थी···।

मुझे यह समझते देर न लगी कि काम-केलि की क्लान्ति सुखमय के लिए चिर-शान्ति का पर्याय बन चुकी थी।···बूढ़ा पतंगा यौवनोन्मत्त दीप-शिखा की प्रचण्ड आँच में झुलस गया था। न जाने क्यों, फिर तो पल भर में मेरे मन के आकाश पर अपराध-बोध के बेशुमार बादल घिर आये।

उस वीभत्स दृश्य को देखने के बाद मैं वहाँ और एक पल के लिए भी नहीं रुक सका। किसी तरह लगभग पवन-वेग से भागकर मैंने अपने घर में प्रवेश किया और मानो वहाँ अपने-आपको आत्मगोपन कर मैंने आत्मरक्षा की!

काशी के 'मुमुक्षु भवन' के एक कमरे में बैठे कहानी सुनाते-सुनाते विपिन बाबू हठात् रुक गये।

मैंने पूछा—उसके बाद?

विपिन बाबू ने कहा—उसके बाद एक दिन जब मेरी पत्नी का भी देहावसान हो गया, तब मुझे जिसकी बात सबसे पहले याद आई, वह सुखमय ही था। सुखमय की मर्मान्तिक परिणति को ध्यान में रखते हुए ही मैं सीधा इस 'मुमुक्षु भवन' में चला आया हूँ। तब से मैं यहीं 'मुमुक्षु भवन' ही में हूँ। लेकिन यहाँ आने के बाद भी सुखमय के हाथों से मुझे मुक्ति नहीं मिल पाई है। सुखमय ने यहाँ भी मेरा पीछा नहीं छोड़ा है। बीच-बीच में सुखमय का वही चेहरा मेरी आँखों के सामने तैरने लगता है और मैं मारे अनुताप के क्षत-विक्षत हो जाता हूँ। मैंने ही तो उसे दुबारा शादी करने के लिए उत्साहित किया था। सचमुच विमल, मैंने ही सुखमय की हत्या की है। सुखमय के जैसे एक ईमानदार और निर्दोष आदमी की हत्या की है। लेकिन ताज्जुब की बात तो यह है कि न तो मुझे फाँसी हुई और न ही मुझे आजीवन कारावास की सजा मिली। और मैं ऐसा पाखण्डी हूँ कि मैं इस मानव-समाज में निर्दोष आदमी का मुखौटा लगाए एवं सिर ऊँचा किये बेरोकटोक घूम रहा हूँ। कोई नहीं जानता कि मैं एक खूनी हूँ।

मैंने कहा—आखिर इस बात के लिए इतने पश्चात्ताप का क्या कारण है विपिन बाबू? सुखमय ने तो ज्योतिष-सम्राट् महोदय की सलाह के अनुसार ही दुबारा शादी की थी। इसमें आपका क्या कसूर?

विपिन बाबू ने आहें भरते हुए कहा—लेकिन भाई, खुद मैंने ही तो मजाक करने के लिए—यूँ ही खेल-खेल में—उस ज्योतिष-सम्राट् को सिखा-पढ़ाकर सुखमय के पास भेज दिया था।

घाट बाबू

जिस बात की मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी, आखिरकार वही बात हुई।

बचपन में क्लास में पढ़ाते-पढ़ाते हठात् मास्टर सा'ब हम लोगों से पूछ बैठे—बड़े होकर तुम लोग क्या बनना चाहते हो?

यह सवाल सुनते ही क्लास के सभी लड़के शुरू में हैरान रह गये थे। हम लोग भविष्य में क्या बनेंगे, इसके बारे में तो हमने कभी मगजपच्ची की ही नहीं। हम लोग सोचा करते थे कि यह फिक्र हमारी नहीं थी, थी हमारे माता-पिता की। उस युग में ऐसा ही रिवाज था। हम लोग स्कूल में जाकर पढ़ाई करेंगे और एक दिन स्कूल की परीक्षा में पास हो जायेंगे। और उसके बाद कोई नौकरी करेगा या फिर कोई करेगा व्यवसाय—वाणिज्य। अथवा कोई अपनी पैत्रिक सम्पत्ति से होने वाली आमदनी के बल-बूते पर बैठ-बैठकर यूं ही आराम से दिन गुजारेगा।

हमारी क्लास का सबसे सीधा और सरल लड़का था अनादि। अनादि सरल होने के बावजूद एक बड़े घर का लड़का था। उन लोगों के घर की एक झलक देखते ही लोगों को दांतों तले उंगली दबा लेनी पड़ती। कलकत्ता महानगर के बीच बगीचे से घिरा हुआ ऐसा मकान साधारणत: नजर नहीं आता। वह मकान एक बीघा जमीन पर बना हुआ था। मकान तीन मंजिला था। कुल मिलाकर मकान में लगभग चालीस-पचास कमरे रहे होंगे। और फिर वहां रहने वाले थे गिनती के कुल तीन। अनादि, उसके पिता जी और उसकी मां···। अनादि के पिता कालीश मुखर्जी महाशय उन दिनों के जमींदार-वंश के एकमात्र वारिस थे। पूर्वी बंगाल में उनकी करोड़ों की सम्पत्ति थी। किन्तु कालीश बाबू अपनी अधेड़ उम्र में ही कलकत्ता में चले आये थे। कलकत्ता आकर ही उन्होंने लोहे का कारोबार करना शुरू कर दिया। और उस कारोबार में उन्होंने बेशुमार रुपये उपार्जित किये। बैंक में उनके खाते में कितने रुपये थे, यह शायद वे खुद भी नहीं जानते थे। अगर कोई जानता तो वे थे उनके मैनेजर, वकील, अटर्नी और बैरिस्टर···। वे कालीश बाबू को जिस तरह रुपयों का विनियोग और खर्च करने की सलाह देते, वे उसी तरह किया करते।

लेकिन इतने रुपये होते हुए भी कालीश बाबू अत्यन्त भद्र, शिक्षित और विनयी व्यक्ति थे। आपद-विपद् के वक्त कोई भी आदमी उनके घर से खाली नहीं लौटता। कालीश बाबू के घर पर ही था हमलोगों का फुटबॉल खेलने का मैदान। घर के पीछे एक विशाल मैदान था। और था एक स्वीमिंग-पूल भी। वह स्वीमिंग-पूल पानी से लबालब भरा हुआ था और था चारों तरफ से रेलिंग से घिरा हुआ। मर्जी हो तो पानी में छलांग लगा दो ! तेल, साबुन, गमछा, तौलिया—सारी चीजें कायदे से सजी हुई थीं। कालीश बाबू बूढ़े हो जाने पर भी रोज स्वीमिंग-पूल में नहाया करते थे और तैरने का अभ्यास किया करते थे। इसीलिए जिन्दगी भर उनकी तन्दुरुस्ती बहुत बढ़िया रही।

और उनके पास एक बड़ी गाड़ी थी। उस जमाने के रिवाज के मुताबिक एक भारी-भरकम विलायती गाड़ी।

हमलोग जो अनादि के साथ एक ही क्लास में पढ़ा करते थे, उस स्वीमिंग-पूल में घंटों नहाया और तैरा करते थे। और सिर्फ यही नहीं, उनकी गाड़ी में भी हमलोग बैठा करते थे। हम लोगों के लिए कोई रोक-टोक या मनाही नहीं थी। इसके लिए कालीश बाबू कभी भी हम लोगों के ऊपर नाराज नहीं होते। न ही कभी उन्होंने इसके लिए हमें डाँटा ही था।

सिर्फ एक ही बात वे बार-बार हम लोगों से कहा करते थे—बेटे, तुम लोग खूब मन लगाकर पढ़ा करो। पढ़ाई-लिखाई किये बिना तुम लोग आदमी नहीं बन पाओगे, समझे ?

हमलोग भी कालीश बाबू की बातें मनोयोग से सुना करते। अनादि भी अपने पिता की बातें गौर से सुनता। अनादि को पढ़ाने लिए कई प्राइवेट ट्यूटर रखे गये थे। अलग-अलग विषय के लिए अलग-अलग ट्यूटर···। अनादि पढ़ाई में खूब तेज हो, ऐसी बात न थी। वह पढ़ाई में औसत दर्जे का था और हर साल किसी तरह वार्षिक परीक्षा में पास हो जाया करता था।

उस दिन मास्टर सा'ब के सवाल के जवाब में हमलोगों ने अलग-अलग तरह की बातें कही थीं।

आनन्द ने खड़े होकर कहा था—मैं बड़ा होकर इंजीनियर बनूँगा, सर।

मदन ने कहा था—मैं बड़ा होकर डॉक्टर बनूँगा, सर।

कार्तिक का जवाब था—मैं बैरिस्टर बनूँगा, सर।

सभी लड़कों ने एक के बाद एक खड़े होकर बताया कि वे बड़े होकर क्या बनना चाहते हैं।

आखिरकार मेरी भी बारी आई। मैंने खड़े होकर मास्टर सा'ब से कहा—मैं लेखक बनूँगा, सर।

मेरा जवाब सुनकर सभी चकित रह गये। लेकिन किसी ने भी मुँह से कुछ भी नहीं कहा।

सबों के बाद में अनादि की बारी आई। और सभी लड़कों की तरह मास्टर सा'ब ने उससे भी प्रश्न किया—बड़े होकर तुम क्या बनोगे अनादि ?

अनादि ने खड़े होकर जवाव दिया—मैं भी लेखक वनूँगा, सर।

आज इतने दिनों के वाद मैं सोचता हूँ कि हाय रे मनुष्य की साध और हाय रे मनुष्य के विधातापुरुष का विधान! साध और साध्य में भला कभी सामंजस्य रह पाता है?

इसीलिए तो शुरू में ही मैंने कहा कि जिस वात की मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी, वही वात हो गई। लेकिन यह कैसी परिणति थी!

अनादि के घर पर उसके पिता जी के पास ढेरों कितावें थीं। कालीश वावू को कितावें पढ़ने की सनक थी। अनादि अपनी पाठ्य-पुस्तकों के वजाय अपने पिता जी की कितावें ही ज्यादा पढ़ा करता था। उन कितावों के साथ-साथ मानो वह सारी दुनिया की परिक्रमा किया करता। कभी फ्रेंच क्रान्ति का इतिहास, कभी अमेरिका के सौ साल के स्वाधीनता-संग्राम की कहानी, कभी नेपोलियन वोनापार्ट के द्वारा रूस पर आक्रमण किये जाने की गाथा, कभी एडवर्ड गिवन द्वारा लिखित 'डिक्लाइन एण्ड फॉल ऑफ रोमन एम्पायर' और कभी टॉमस एडिशन के अविस्मरणीय आविष्कारों के किस्से···।

मैं भी अनादि के घर पर जाकर उन कितावों को पढ़ा करता था।

अनादि कहता—जानते हो विमल, पृथ्वी के सभी लेखकों की कितावें पढ़े विना लेखक नहीं वना जा सकता। वढ़िया लेखक वनने के लिए वढ़िया पाठक वनना निहायत जरूरी है।

मैं भी उसकी वातों पर विश्वास करता। कभी-कभी मैं पूछ वैठता—ये सव वातें तुम्हें किसने सिखाई हैं?

अनादि जवाव देता—ये सव वातें मैंने कितावों पढ़कर ही सीखी हैं।

अनादि के मन में कभी किसी तरह का घमण्ड था ही नहीं। वह जो इतने धनी-मानी व्यक्ति का लड़का था, मानो इस वात की उसे जानकारी थी ही नहीं। वह सिर्फ यही जानता था कि उन लोगों को कभी रुपयों का कोई अभाव नहीं होगा। इसलिए उसे रुपये कमाने के लिए कभी नौकरी नहीं करनी पड़ेगी।

और उसके पिता जी का कारोवार?

जव कालीश वावू इस दुनिया में मौजूद नहीं रहेंगे, उस समय उस कारोवार की देख-भाल कौन करेगा?

मैं पूछा करता—अगर तुम लेखक वन जाते हो, तो तुम्हारे पिता जी का लोहे का कारोवार कौन चलायेगा? तुम्हारे तो और कोई भाई-वहन भी नहीं। तुम्हें अकेले ही सव कुछ देखना होगा।

अनादि कहता—और तुम? तुम किस तरह लेखक वनोगे?

मैं कहता—मैं दिन के वक्त कोई नौकरी करूँगा और वाकी समय में लेखन-कार्य करूँगा।

अनादि कहता—नौकरी करते हुए क्या वढ़िया लिखा जा सकता है? तो फिर जिस तरह की रचनाएँ दूसरे लोग नौकरी करते-करते लिखते हैं, वैसी ही रचनाएँ तुम भी लिखोगे। इससे हो सकता है कि चार दिनों के लिए तुम्हारा कुछ नाम भी हो जायेगा

उसके बाद फिर एक दिन सभी तुम्हारा नाम भूल जायेंगे। इस तरह के हजार-हजार लेखक पहले भी हो चुके हैं, किन्तु आज वे कहाँ हैं ?

अनादि की बातें मुझे सुनने में अच्छी नहीं लगती। फिर भी मैं चुप ही रहा करता।

अनादि कहता—इस तरह का लेखक बनने के बजाय लेखक नहीं बनना ही बेहतर है।

अनादि की बातें मैं कड़वी दवा की भाँति निगल जाता। मैं किसी भी तरह की प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं करता।

अनादि कहता—लेखन-कार्य कोई बिजनेस नहीं है भाई। लेखन के लिए तो तुम्हें अपना सर्वस्व अर्पित करना होगा। अगर संभव हुआ तो अपने आप को समर्पित करना होगा। माँ सरस्वती के समक्ष स्वयं को उत्सर्ग कर देना होगा।

मैं कहता—सबों के पिता जी तो तुम्हारे पिता जी की तरह धनी-मानी आदमी नहीं हैं। तुम्हारे लिए जो मुमकिन है, वह है हमारे लिए बिलकुल नामुमकिन। हम लोग गरीब आदमी हैं। लेखन के लिए हम अपना जीवन न्योछावर नहीं कर पायेंगे। लेखन के लिए हम माँ सरस्वती के चरणों में अपने-आप को समर्पित भी नहीं कर पायेंगे।

अनादि कहता—तो फिर लेखक होने से क्या फायदा ? सिर्फ पत्रिकाओं में नाम छपने पर या दो-एक किताबें प्रकाशित होने पर ही कोई लेखक नहीं बन जाता। वैसा लेखक बनकर भला मानव-जाति का क्या उपकार किया जा सकता है ?

सो ऐसा ही था हम लोगों का अनादि। अनादि मुखर्जी। धीरे-धीरे हम लोग सभी स्कूल से निकलकर कॉलेज में दाखिल हुए। उसके बाद हम लोग यूनिवर्सिटी में गये। और एक दिन हमें यूनिवर्सिटी से भी बाहर आना पड़ा। हम लोगों के सहपाठियों में से कौन छिटक-कर कहाँ चला गया, उसकी खबर रख पाना भी हमारे लिए संभव नहीं रहा। आनन्द शेष पर्यन्त इंजीनियर बन सका या नहीं, मदन डॉक्टर बन पाया या नहीं, कार्तिक बैरिस्टर हो सका या नहीं, इसकी कोई जानकारी मुझे प्राप्त नहीं हो सकी। इसका कारण यह था कि मैं खुद ही आँधी में पड़े सूखे पत्ते की भाँति छिटक कर न जाने कहाँ चला गया कि उनके बारे में सोच पाने की मुझे फुर्सत ही नहीं मिली।

शायद सबों की जिन्दगी में ऐसा ही होता है। शायद जिन्दगी का यही है नियम।

नौकरी करते-करते मैं उस समय सारे भारतवर्ष में घूम रहा था। कभी राज-स्थान, कभी मद्रास, कभी महाराष्ट्र, कभी मध्य प्रदेश तो कभी बिहार'''। सारे प्रदेश ही मानो मेरे अपने हो गये थे। सारी जगहों के लोग ही मानो मेरे स्वजन हो गये थे।

बीच में एक बार अनादि के बारे में खबर मिली कि वह भ्रमण करने के लिए भारत वर्ष के बाहर किसी दूसरे देश में गया है।

और उन लोगों की वह भव्य हवेली ?

अनादि ने खड़े होकर जवाब दिया—मैं भी लेखक बनूँगा, सर।

आज इतने दिनों के बाद मैं सोचता हूँ कि हाय रे मनुष्य की साध और हाय रे मनुष्य के विधातापुरुष का विधान! साध और साध्य में भला कभी सामंजस्य रह पाता है?

इसीलिए तो शुरू में ही मैंने कहा कि जिस बात की मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी, वही बात हो गई। लेकिन यह कैसी परिणति थी!

अनादि के घर पर उसके पिता जी के पास ढेरों किताबें थीं। कालीश बाबू को किताबें पढ़ने की सनक थी। अनादि अपनी पाठ्य-पुस्तकों के बजाय अपने पिता जी की किताबें ही ज्यादा पढ़ा करता था। उन किताबों के साथ-साथ मानो वह सारी दुनिया की परिक्रमा किया करता। कभी फ्रेंच क्रान्ति का इतिहास, कभी अमेरिका के सौ साल के स्वाधीनता-संग्राम की कहानी, कभी नेपोलियन बोनापार्ट के द्वारा रूस पर आक्रमण किये जाने की गाथा, कभी एडवर्ड गिबन द्वारा लिखित 'डिक्लाइन एण्ड फॉल ऑफ रोमन एम्पायर' और कभी टॉमस एडिशन के अविस्मरणीय आविष्कारों के किस्से···।

मैं भी अनादि के घर पर जाकर उन किताबों को पढ़ा करता था।

अनादि कहता—जानते हो विमल, पृथ्वी के सभी लेखकों की किताबें पढ़े बिना लेखक नहीं बना जा सकता। बढ़िया लेखक बनने के लिए बढ़िया पाठक बनना निहायत जरूरी है।

मैं भी उसकी बातों पर विश्वास करता। कभी-कभी मैं पूछ बैठता—ये सब बातें तुम्हें किसने सिखाई हैं?

अनादि जवाब देता—ये सब बातें मैंने किताबों पढ़कर ही सीखी हैं।

अनादि के मन में कभी किसी तरह का घमण्ड था ही नहीं। वह जो इतने धनी-मानी व्यक्ति का लड़का था, मानो इस बात की उसे जानकारी थी ही नहीं। वह सिर्फ यही जानता था कि उन लोगों को कभी रुपयों का कोई अभाव नहीं होगा। इसलिए उसे रुपये कमाने के लिए कभी नौकरी नहीं करनी पड़ेगी।

और उसके पिता जी का कारोबार?

जब कालीश बाबू इस दुनिया में मौजूद नहीं रहेंगे, उस समय उस कारोबार की देख-भाल कौन करेगा?

मैं पूछा करता—अगर तुम लेखक बन जाते हो, तो तुम्हारे पिता जी का लोहे का कारोबार कौन चलायेगा? तुम्हारे तो और कोई भाई-बहन भी नहीं। तुम्हें अकेले ही सब कुछ देखना होगा।

अनादि कहता—और तुम? तुम किस तरह लेखक बनोगे?

मैं कहता—मैं दिन के वक्त कोई नौकरी करूँगा और बाकी समय में लेखन-कार्य करूँगा।

अनादि कहता—नौकरी करते हुए क्या बढ़िया लिखा जा सकता है? तो फिर जिस तरह की रचनाएँ दूसरे लोग नौकरी करते-करते लिखते हैं, वैसी ही रचनाएँ तुम भी लिखोगे। इससे हो सकता है कि चार दिनों के लिए तुम्हारा कुछ नाम भी हो जायेगा

उसके बाद फिर एक दिन सभी तुम्हारा नाम भूल जायेंगे। इस तरह के हजार-हजार लेखक पहले भी हो चुके हैं, किन्तु आज वे कहाँ हैं?

अनादि की बातें मुझे सुनने में अच्छी नहीं लगती। फिर भी मैं चुप ही रहा करता।

अनादि कहता—इस तरह का लेखक बनने के बजाय लेखक नहीं बनना ही बेहतर है।

अनादि की बातें मैं कड़वी दवा की भाँति निगल जाता। मैं किसी भी तरह की प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं करता।

अनादि कहता—लेखन-कार्य कोई बिजनेस नहीं है भाई। लेखन के लिए तो तुम्हें अपना सर्वस्व अर्पित करना होगा। अगर संभव हुआ तो अपने आप को समर्पित करना होगा। माँ सरस्वती के समक्ष स्वयं को उत्सर्ग कर देना होगा।

मैं कहता—सबों के पिता जी तो तुम्हारे पिता जी की तरह धनी-मानी आदमी नहीं हैं। तुम्हारे लिए जो मुमकिन है, वह है हमारे लिए बिलकुल नामुमकिन। हम लोग गरीब आदमी हैं। लेखन के लिए हम अपना जीवन न्योछावर नहीं कर पायेंगे। लेखन के लिए हम माँ सरस्वती के चरणों में अपने-आप को समर्पित भी नहीं कर पायेंगे।

अनादि कहता—तो फिर लेखक होने से क्या फायदा? सिर्फ पत्रिकाओं में नाम छपने पर या दो-एक किताबें प्रकाशित होने पर ही कोई लेखक नहीं बन जाता। वैसा लेखक बनकर भला मानव-जाति का क्या उपकार किया जा सकता है?

सो ऐसा ही था हम लोगों का अनादि। अनादि मुखर्जी। धीरे-धीरे हम लोग सभी स्कूल से निकलकर कॉलेज में दाखिल हुए। उसके बाद हम लोग यूनिवर्सिटी में गये। और एक दिन हमें यूनिवर्सिटी से भी बाहर आना पड़ा। हम लोगों के सहपाठियों में से कौन छिटक-कर कहाँ चला गया, उसकी खबर रख पाना भी हमारे लिए संभव नहीं रहा। आनन्द शेष पर्यन्त इंजीनियर बन सका या नहीं, मदन डॉक्टर बन पाया या नहीं, कार्तिक बैरिस्टर हो सका या नहीं, इसकी कोई जानकारी मुझे प्राप्त नहीं हो सकी। इसका कारण यह था कि मैं खुद ही आँधी में पड़े सूखे पत्ते की भाँति छिटक कर न जाने कहाँ चला गया कि उनके बारे में सोच पाने की मुझे फुर्सत ही नहीं मिली।

शायद सबों की जिन्दगी में ऐसा ही होता है। शायद जिन्दगी का यही है नियम।

नौकरी करते-करते मैं उस समय सारे भारतवर्ष में घूम रहा था। कभी राज-स्थान, कभी मद्रास, कभी महाराष्ट्र, कभी मध्य प्रदेश तो कभी बिहार···। सारे प्रदेश ही मानो मेरे अपने हो गये थे। सारी जगहों के लोग ही मानो मेरे स्वजन हो गये थे।

बीच में एक बार अनादि के बारे में खबर मिली कि वह भ्रमण करने के लिए भारत वर्ष के बाहर किसी दूसरे देश में गया है।

और उन लोगों की वह भव्य हवेली?

अनादि के माता-पिता तब तक परलोक सिधार चुके थे। उनकी हवेली को एक बिजनेसमैन ने खरीद लिया था। उसने बड़ी-बड़ी आकाशचुम्बी बिल्डिगें बनाकर सारी जगह को कंक्रीट के जंगल में परिणत कर डाला था। कालीश बाबू की पुरानी हवेली का नाम-निशान भी बाकी नहीं बच पाया था।

उसके बाद मैंने तय किया कि मैं अपनी घुमक्कड़-वृत्ति से मुक्ति ग्रहण करूँगा। अब मैं कहीं स्थिर होकर रहूँगा। अब और बहिर्मुखी नहीं, अन्तर्मुखी बनूँगा। और इसी क्रम में किस तरह दिन-मास-वर्ष कट गये, रात और दिन एकाकार हो गये, उम्र की गाड़ी सरकती-सरकती मृत्यु के करीब आने लगी, इसका मुझे कुछ पता ही नहीं चला। कितने हजार पन्ने मैंने रोशनाई से रँगे, कितने हजार पन्ने मैंने फाड़ डाले, कितनी किताबें छपीं, कितनी किताबें किन-किन भाषाओं में अनूदित हुईं; इसका लेखा-जोखा रखने तक की फुर्सत नहीं मिली। किस प्रकाशक ने रुपये नहीं दिये अथवा किस प्रकाशक ने ज्यादा रुपये दे डाले; इसका हिसाब भला मैं कभी रख पाता हूँ क्या? और सिर्फ यही नहीं; मेरे नाम पर कितनी जाली किताबें बाजार में निकली हैं, कितने लोगों ने मुझे गालियाँ दी हैं, कितने लोगों ने मेरी प्रशंसा की है, कितने लोगों ने मुझे आशीर्वाद दिये हैं—इनका हिसाब रख पाना भी मेरे लिए संभव नहीं हो पाया है।

ठीक इसी समय मेरे जीवन में एक घटना घट गई।

हठात् एक सिनेमा-कम्पनी के चक्कर में मैं आ गया। बम्बई की हिन्दी-सिनेमा बनाने वाली कम्पनी ने मेरी कहानी पर फिल्म बनाने का निश्चय किया था। लेकिन वे लोग फिल्म की पटकथा तैयार करने में भी मेरा सहयोग चाहते थे।

सिर्फ पटकथा की रचना ही नहीं। उनके साथ मुझे लोकेशन पर भी जाना पड़ा, मध्य प्रदेश के एक गाँव में। वहाँ मकर संक्रान्ति के अवसर पर छत्तीसगढ़ी लोगों का एक विराट् मेला लगा करता है। छत्तीसगढ़ के ये निवासी बड़े ही सीधे-सादे और ईमानदार होते हैं।

यह घटना वहीं घटी थी।

टिल्डा रेलवे स्टेशन पर उतर कर हमें कदमकुआँ नामक गाँव में जाना पड़ा। वहाँ एक नदी है। नदी का नाम है—'आड़पा।' हर रोज कितने असंख्य लोग नदी के इस पार से उस पार जाते-आते हैं, इसका कोई हिसाब नहीं। नदी के इसी पार सिनेमा कम्पनी का तम्बू गाड़ दिया गया। कुछ लोग तम्बू के भीतर रह गये। और हम लोग कुछ आदमी एक स्कूल के भवन में टिके। नदी के उस पार मकर संक्रान्ति का मेला लगा हुआ था। शूटिंग करने के लिए हम लोगों को भी नाव में बैठकर नदी के उस पार जाना पड़ा था। हमारी यूनिट में आदमी भी कम नहीं थे। नदी का पाट चौड़ा था और उसमें पानी भी कम नहीं था।

हम लोग जिस स्कूल में टिके थे, वह था एक निपट देहाती स्कूल। कदमकुआँ के छत्तीसगढ़ी लड़के-लड़कियाँ उसी स्कूल में पढ़ने के लिए आया करते थे। मकर संक्रान्ति की उन दिनों स्कूल में छुट्टी चल रही थी। इसलिए मास्टर साहब के हाथ में भी उस समय कोई काम नहीं था।

मेरे पास भी फुर्सत ही फुर्सत थी। इसीलिए मैं मास्टर साहब के साथ बातचीत करने लगा।

मैंने मास्टर साहब से पूछा—जिन्दगी भर इस निपट देहात में पड़ा रहना क्या आपको खराब नहीं लगता ?

मास्टर जी का नाम था रामावतार शर्मा। उन्होंने कहा—खराब क्यों लगेगा ? आखिरकार कुछ बच्चे तो मेरे हाथों आदमी बन रहे हैं।

सो तो है ही। कहाँ वह बम्बई और कहाँ कलकत्ता ! उसकी तुलना में यह कदम-कुआँ…! यहाँ बिजली की रोशनी नहीं और इसीलिए रेडियो और टेलिविजन भी नहीं है। और अखबार का तो सवाल उठाना ही व्यर्थ है। पुआल की छप्पर वाली झोपड़ी और कच्चे रास्ते…। थोड़ी ही दूर पर है जंगल। जंगल के भीतर बाघ या जंगली सूअर न हों, यही ताज्जुब की बात थी। यहाँ आखिर पढ़े-लिखे ये रामावतार शर्मा जी भला रहते कैसे हैं ?

रामावतार शर्मा जी ने मुझसे कहा—आपको ताज्जुब जरूर हो रहा होगा, लेकिन मैं यहाँ बड़े आराम से हूँ। आखिर कुछ लोगों को तो मैं आदमी बना पा रहा हूँ। मुझे इसी बात का परम सन्तोष है।

उसके बाद उन्होंने कहा—एक कहानी सुनेंगे मित्र जी ?

मैंने कहा—जरूर। सुनाइए…।

शर्मा जी ने उस दिन जो कहानी मुझे सुनाई, वह बड़ी अद्भुत थी। उस दिन उस कहानी को सुनने के बाद मानो मुझे अपने सभी प्रश्नों का उत्तर मिल गया।

यह कहानी रूस के महान लेखक टॉल्सटाय के जीवन से सम्बन्धित थी।

रूसी लेखक टॉल्सटाय की रचनाओं के साथ मेरा परिचय पहले से ही था। उनकी कितनी किताबें मैंने बार-बार पढ़ी हैं, इसका कोई हिसाब नहीं। उस महान लेखक का नाम इस कदमकुआँ के स्कूल-मास्टर रामावतार शर्मा जी के मुँह से सुनकर मैं हैरान रह गया। उस विश्व-विख्यात लेखक का नाम मैं छत्तीसगढ़ के इस अख्यात ग्राम के बीच सुन पाऊँगा, इस बात की मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी।

शर्मा जी ने कहा—देखिए मित्र जी, मैं भी बचपन से ही आपकी तरह एक लेखक बनने की साध अपने मन में पालता रहा हूँ। लेकिन टॉल्सटाय के जीवन की एक घटना के बारे में सुनकर मैंने अपनी उस साध को तिलांजलि दे दी और इस छत्तीस-गढ़ के इस निपट देहात में मैं स्कूल-मास्टर बन गया हूँ।

मैंने कहा—लेकिन उस घटना के बारे में तो बताइए।

शर्मा जी वह किस्सा सुनाने लगे। वे अपने कमरे में बैठे खाना पकाते जा रहे थे और साथ-ही-साथ मुझे कहानी भी सुनाते जा रहे थे।

सो यह बहुत पुरानी कहानी है। सन् 1909 ई० की। रूस देश का एक लड़का अपने माँ-बाप से बगैर कुछ बताये कमरे के दरवाजे-खिड़कियाँ बन्द कर एक चिट्ठी लिखने लगा।

वहुत-से कागज वर्वाद करने के वाद भी लिखी गई चिट्ठी उस लड़के को पसन्द नहीं आई आखिर उसने किसी तरह वह चिट्ठी पूरी की।

उस लड़के की उम्र थी सिर्फ आठ साल की।

आठ साल का एक लड़का इस तरह किसी को चिट्ठी लिख सकता है, इस बात पर कोई भी विश्वास नहीं करेगा। हिज्जे की वेशुमार गलतियाँ, टेढ़ी-वाँकी लाइनें और चिथड़ा कागज···। यही थी वह चिट्ठी। आठ साल के उस लड़के ने एक दिन सवों की नजरें वचाकर चुपचाप वह चिट्ठी डाकघर के लेटर-वॉक्स में डाल दी।

लेकिन उसके वाद? उसके वाद उस चिट्ठी का जवाव उसके पास नहीं आया। उसने जो चिट्ठी लिखी थी, इस वात को भी वह कुछ दिनों के वाद भूल गया। इसका कारण यह कि चिट्ठी में ऐसी कोई वात थी भी नहीं कि उसे हमेशा याद रखा जाये। उसे यही याद था कि उसने चिट्ठी में लिखा था—डियर काउण्ट टॉलसटाय, आप मेरा प्रणाम स्वीकार कीजिए। इस दुनिया में मैं आपके प्रति ही सवसे ज्यादा श्रद्धा रखता हूँ। मैं वड़ा होकर आपके जैसा लेखक वनना चाहता हूँ। इसलिए मैं आपके आशीर्वाद की कामना करता हूँ। इति···।

छोटी-सी चिट्ठी थी। किन्तु जो वहुतेरे लोगों की सैंकड़ों चिट्ठियाँ हर रोज पाते थे, वे एक मामूली आठ साल के लड़के की हिज्जे की गलतियों से भरी चिट्ठी का उत्तर कैसे देते? उनके पास इतना वक्त ही कहाँ था? उन्हें तो और भी वड़ी-वड़ी समस्याओं को लेकर माथापच्ची करनी पड़ती थी।

किन्तु नहीं, एक दिन सचमुच ही टॉलसटाय का उत्तर आ गया।

उस लड़के के माता-पिता दोनों ही घर के वरामदे में वैठे हुए थे। उसी समय पोस्ट-मैन उस लड़के के पिता के हाथ में एक चिट्ठी दे गया। शुरू में उन्होंने सोचा था कि चिट्ठी उनकी ही होगी। लेकिन नहीं। चिट्ठी के ऊपर उनके आठ साल के लड़के का नाम-पता लिखा हुआ था।

ताज्जुव की वात! आठ साल की उम्र के लड़के को भला किसने चिट्ठी लिखी है?

झटपट उन्होंने लिफाफे को फाड़कर चिट्ठी को वाहर निकाला। पत्र भेजने वाले का नाम पढ़कर वे हैरान रह गये। चिट्ठी और किसी ने नहीं, स्वयं विश्वविख्यात साहित्यिक लियो टॉलसटाय ने लिखी थी। टॉलसटाय ने चिट्ठी में लिखा था:

"Seryojna Yermoluisky
Snegovaya St. No. 7, Flat No. 1,
Villinus
Yasanaya Polyana

March 25, 1909

Your wish to become a writer is a wicked wish, for it means that you want worldly fame for yourself. It is just

wicked vanity. One should have only one desire to be kind, not to offend, not to censure and not to hate any one, but to love everybody.

Lev Tolstoy"

चिट्ठी का भावार्थ यह था—"तुम्हारी लेखक होने की इच्छा एक दुष्टतापूर्ण इच्छा है। इसका मतलब यह है कि तुम अपने-आप के लिए सांसारिक ख्याति चाहते हो। यह एक दंभ के सिवाय और कुछ भी नही। किसी के प्रति निष्ठुर नहीं बनना, किसी के प्रति दोषारोप नही करना, किसी पर आघात नही करना और सबों के साथ प्यार करना, यही मनुष्य की प्रथम और प्रधान कामना होनी चाहिए। इति···।

—लियो टॉलस्टाय।"

कहानी सुनाते-सुनाते हठात् रामावतार शर्मा जी रुक गये।

मैंने पूछा—उसके बाद ?

रामावतार शर्मा जी कहने लगे—चिट्ठी पढ़कर वह आठ साल का लड़का कुछ भी समझ नहीं पाया। चिट्ठी मे टॉलस्टाय ने जो कुछ लिखा था, उसे समझने लायक उम्र उस लड़के की थी भी नही। लेकिन लड़के के मन मे एक समस्या जन्म ले चुकी थी। तो क्या लेखक होना पाप है ?

बात बड़ी ही जटिल थी। डॉक्टर बनने की इच्छा रखना खराब नहीं, इंजीनियर बनने की इच्छा रखना खराब नही और वकील-बैरिस्टर बनने की इच्छा रखना भी खराब नहीं। तो क्या सिर्फ लेखक या साहित्यिक बनने की इच्छा रखना खराब है ? यश-प्रतिष्ठा पाने की इच्छा रखना क्या खराब है ?

और मजा यह है कि दुनिया मे सभी तो अर्थ, यश और प्रतिष्ठा प्राप्त करना चाहते हैं।

इस बात ने उ। आठ साल के लड़के को मानो झकझोर डाला था।

लेकिन उस लड़के के माता-पिता की खुशी की सीमा नही थी। वे तो मानो कृतार्थ हो गए थे। उनके लड़के को टॉलस्टाय-सरीखे विश्वविख्यात लेखक ने चिट्ठी लिखी थी, इससे बढ़कर खुशी की बात और क्या हो सकती है ?

रातों-रात वह लड़का अपने गाँव मे विख्यात हो गया। अगर वह रास्ते पर निकलता तो लोग उसकी तरफ उँगली से इशारा कर कहते—देखो, वही लड़का है जिसे महान लेखक टॉलस्टाय ने चिट्ठी लिखी है।

धीरे-धीरे उस लड़के के घर पर लोगों की भीड़ जुटने लगी। दूर-दूर के गाँव के लोग वहाँ उस लड़के को एवं टॉलस्टाय द्वारा लिखी गई उस चिट्ठी को देखने के लिए आने लगे। सारी दुनिया के लोग जिस महान लेखक का दर्शन-लाभ करने लिए लालायित रहते हैं, उसी महान लेखक ने इस आठ साल के लड़के को चिट्ठी लिखी थी। उन्होंने अपने हाथ से वह चिट्ठी लिखी थी। यह एक बड़े ही आश्चर्य की घटना थी।

उसके बाद और एक मजेदार काण्ड हुआ।

उस गाँव के प्रत्येक घर से फिर तो टॉलसटाय के नाम एक-एक चिट्ठी भेजी जाने लगी। सभी चाहते थे कि उन्हें भी टॉलसटाय महोदय चिट्ठी लिखें। कोई उनकी कोई एक किताब चाहता, तो कोई उनका आशीर्वाद चाहते हुए चिट्ठी लिखता। या फिर कोई चिट्ठी लिखकर उनसे मिलने की इच्छा व्यक्त करता। अथवा कोई ऑटोग्राफ-युक्त फोटो भेजने की प्रार्थना करता। सबों में इसी तरह की बातें होतीं। बेहतरीन कागज पर शुद्ध-शुद्ध सधे अक्षरों में सबों ने लिखा—श्रद्धेय टॉलसटाय महोदय, मैं बड़ा होकर एक लेखक बनना चाहता हूँ। आप मुझे आशीर्वाद दीजिए।

लेकिन मजे की बात यह है कि उस गाँव के और किसी भी लड़के ने अपनी चिट्ठी का कोई जवाब टॉल्सटाय की तरफ से नहीं पाया। वे सारी चिट्ठियाँ टॉल्सटाय के पास पहुँची थीं या नहीं, कौन जाने! तदुपरान्त 20 अक्टूबर, 1910 ई० के दिन टॉलसटाय ने परलोक गमन किया।

मैंने पूछा—उसके बाद?

रामावतार शर्मा जी कहने लगे—उसके बाद और क्या होता? बचपन से ही मेरे मन में भी और दूसरे लड़कों की भाँति लेखक या साहित्यिक बनने की साध थी। लेकिन टॉल्सटाय की उस चिट्ठी वाली घटना की जानकारी मिलने के बाद मेरे जीवन में एक नया मोड़ आ गया। मुझे ऐसा लगा कि मेरे लेखक होने की वासना अहंकार की वासना है, मेरे आत्म-प्रचार की वासना है, मेरी नीचता की वासना है। मनुष्य के जीवन की असल कामना होनी चाहिए पराये को अपना बनाने की साधना, दूसरों को प्यार करने की साधना, दूर के लोगों को नजदीक लाने की साधना। इसीलिए फिर मैंने लेखक बनने की साध का परित्याग कर दिया। लिखना छोड़कर मैंने इस निपट देहात में ग्रामीण छत्तीसगढ़ी लड़के-लड़कियों को योग्य बनाने की साधना शुरू कर दी है।

उसके बाद कुछ रुककर शर्मा जी ने पूछा—यह जो सिनेमा पार्टी बम्बई से यहाँ शूटिंग करने के लिए आई है, उस फिलम के कहानी-लेखक आप ही हैं क्या?

मैंने कहा—हाँ, कहानी-लेखक और संवाद-लेखक दोनों मैं ही हूँ। लेकिन अभी आपने टॉल्सटाय की जो कहानी सुनाई, वह आपने किसी किताब में पढ़ी है क्या? अगर ऐसी बात हो तो मेहरबानी करके बताइए कि उस किताब का नाम क्या है और वह किताब कहाँ मिल सकती है!

शर्मा जी बोले—वह घटना तो मैंने घाट बाबू के मुँह से सुनी थी। आज से करीब दस-बारह साल पहले···। उस घटना को सुनने के बाद मैंने प्रसन्नतापूर्वक स्कूल-मास्टर की यह नौकरी स्वीकार कर ली।

मैंने पूछा—घाट बाबू? ये घाट बाबू कौन हैं?

रामावतार शर्मा जी ने कहा—वही, जिन्होंने आप लोगों को नाव से नदी के पार पहुँचाया था। उस पार तो आप लोग मकर संक्रान्ति के मेले की शूटिंग करने के लिए गये थे। उस मेले को देखने के लिए हजारों-हजार लोग नदी के पार जाते हैं। घाट बाबू अपनी नौका पर बिठाकर सबों को नदी के पार पहुँचा देते हैं। इसके लिए वे किसी से एक पैसा भी नहीं लेते। आपने भी तो उनको यानी घाट बाबू को जरूर देखा होगा।

मैंने पूछा—क्या वही आदमी, जिसने अपने सिर पर बड़ी-सी पगड़ी बाँध रखी थी ?

रामावतार शर्मा जी बोले—हाँ, वे ही हम लोगों के घाट बाबू हैं। यह स्कूल उनके द्वारा दिये गये रुपयों से ही बनाया गया है। सिर्फ यह स्कूल ही नहीं, यहाँ के छत्तीसगढ़ी लड़कों के लिए घाट बाबू ने एक लाइब्रेरी भी बनवा दी है। घाट बाबू ने जो अस्पताल बनवाया है, उससे लोगों को बहुत सुविधाएँ मिली हैं। घाट बाबू ने सिर्फ दवा देने का ही इन्तजाम नहीं किया है, बल्कि साथ-ही-साथ पथ्य की भी व्यवस्था की है। वे रोगी बिना पैसे साबूदाना और बार्ली पाते हैं। यहाँ स्कूल से पढ़कर कई लड़के नागपुर जाकर डॉक्टरी पास कर आये हैं। उनमें से बहुत-से इसी अस्पताल में डॉक्टर हैं।

रामावतार शर्मा जी के मुँह से घाट बाबू की कहानी सुनते-सुनते काफी रात हो गई थी। कदमकुआँ गाँव बिल्कुल शान्त और नीरव था। हमलोगों की यूनिट के दूसरे लोग बगल वाले कमरे में संभवतः ट्राजिस्टर खोलकर 'विविध भारती' के गाने सुन रहे थे। उन गीतों की धुन कभी-कभी कानों से आकर टकरा जाती थी।

चारों तरफ दीवार से सटी आलमारियों में बहुत-सी किताबें सजी हुई थीं।

मैंने पूछा—ये किताबें किसकी हैं ? इतनी किताबें कौन पढ़ता है ?

शर्मा जी ने कहा – ये सारी किताबें घाट बाबू की हैं। उनको भी लेखक बनने का नशा था। लेकिन टॉलस्टाय की उस चिट्ठी वाली घटना पढ़कर उन्होंने लिखना छोड़ दिया। और वे यहाँ आकर घाट बाबू बन गये। उन्हें यहाँ आये बीस साल से भी ज्यादा हो गये होंगे।

उसके बाद उन्होंने चौंकते हुए कहा—यह देखिए, घाट बाबू यहाँ आ गये हैं।

मैंने देखा कि वही घाट बाबू कमरे के भीतर दाखिल हुए। उनके सिर पर पगड़ी थी, बदन में फतुआ था, घुटनों तक धोती थी और पैरों में थे देहाती जूते। मुझे याद आ गया कि यही घाट बाबू हमारी यूनिट के सदस्यों को नाव पर बिठा कर आड़पा नदी के उस पार ले गये थे।

पहले तो मैं उन्हें ठीक-ठीक पहचान नहीं पाया। लेकिन उन्होंने ज्योंही पगड़ी खोली, मैं मानो आकाश से नीचे गिर पड़ा।

मैं उन्हें देखते ही उछल पड़ा। मैंने कहा—अरे, तुम अनादि हो न ?

अनादि भी मुझे पहचान चुका था। उसने कहा—अरे तुम, विमल ?

उस समय अपने सामने अनादि को पाकर मानो मैं स्वयं को भुला बैठा। मैंने कहा—अनादि, तुमने हम सबों को पराजित कर दिया है, भाई।

कहने के साथ-साथ ही मैं उसके पैरों को छू लेना चाहता था। लेकिन उसके पहले ही अनादि ने मुझे खींचकर अपने सीने से लगा लिया। उसने कहा—छि-छि, तुम मेरे पैर छूने जा रहे थे। क्यों भला बताओ तो ? हमलोग तो सभी समान हैं रे। न कोई बड़ा है और न कोई छोटा। सभी समान हैं...।

उसकी बातें सुनकर मैं अपने-आप को संभाल नहीं पाया। मेरी दोनों आँखों से सावन-भादों की धारा बहने लगी।

मैं उस समय यही सोच रहा था कि कब आज से लगभग ढाई हजार साल पहले एक राजपुत्र रास्ते पर निकल आया था और बुद्धदेव बन गया था। और इस युग में भी और एक आश्चर्य की घटना घटी। एक करोड़पती बाप का बेटा अनादि मुखर्जी किसकी लिखी हुई एक किताब पढ़कर किस एक जादू-मन्तर के प्रभाव से बन गया घाट बाबू।

बादशाह की वापसी

'दि ग्रेट इण्डियन सर्कस कम्पनी' वालों ने दार्जिलिंग शहर में अपना तम्बू गाड़ दिया था। लेकिन सर्कस के मालिक का मन बड़ा उदास था। पिछली बार की तरह इस बार सर्कस की टिकटें बिक नहीं रही थीं। सभी कह रहे थे—इस बार जब सर्कस में बादशाह का खेल होगा ही नहीं, तो सर्कस देखने से क्या फायदा।

बादशाह नहीं है, इसलिए रामलाल के हाथ में भी कोई काम नहीं। वह भी बेकार बन गया। वही था बादशाह का ट्रेनर। बादशाह के न होने पर रामलाल भी अनमना-सा बैठा हुआ था।

लेकिन अचानक न जाने कहाँ से आकर बादशाह सर्कस के गेट से भीतर घुसा। झट-पट रामलाल के पास खबर भेजी गई। रामलाल खबर पाते ही दौड़ा आया। बादशाह को देखकर वह चमक उठा, उसकी बाँछें खिल उठीं। उसके मुँह से सिर्फ यही निकला—अरे बादशाह तू…?

थोड़ी देर के बाद रामलाल ने पूछा—क्यों रे बादशाह, कहाँ था तू इतने दिनों तक?

हाँ, बादशाह के पास बहुत-कुछ कहने को है। कहाँ था वह, किस तरह था वह और कैसी-कैसी तकलीफें उठाई हैं उसने। तो मैं उसी बादशाह की कहानी सुनाता हूँ। बादशाह, जो कि 'दि ग्रेट इण्डियन सर्कस कम्पनी' का एक ऐसा अनोखा भालू था, जिसके खेल-तमाशे देखकर दर्शक वाह-वाह कर उठते थे।

सर्कस कम्पनी की स्पेशल रेलगाड़ी जब जंगल के बीच से गुजर रही थी, उसी समय दुर्घटना हो गई थी। रेलगाड़ी में अचानक आग लग गई थी। उस दुर्घटना के बाद से ही बादशाह गायब हो गया था। उसके बाद अब बादशाह वापस लौटा है।

थोड़े ही दिनों पहले यह दुर्घटना हुई थी। रात का वक्त था। रेलगाड़ी के भीतर अँधेरा था—कहीं कुछ भी दिखाई नहीं पड़ रहा था। सिर्फ रेलगाड़ी के पहियों

की आवाज सुनाई पड़ती थी। रेलगाड़ी के भीतर जो भी थे, सभी सोये हुए थे।

लेकिन बादशाह की आंखों में नींद नहीं थी। रात का वक्त था और रेलगाड़ी हिचकोले खाती हुई बढ़ी जा रही थी। बादशाह को नींद आये भी तो कैसे आये ?

बादशाह को हमेशा रेलगाड़ी में बैठकर एक शहर से दूसरे शहर तक जाना पड़ा है। एक शहर में पन्द्रह-बीस दिनों से ज्यादा कहीं रुकने का उनका नियम नहीं था। एक शहर में पन्द्रह-बीस दिनों तक रहने के बाद फिर तम्बू उखाड़ना होता, माल-असबाब समेटना होता और फिर रेलगाड़ी में सवार हो जाना पड़ता।

बादशाह को नींद आ रही थी। वह अपने ट्रेनर रामलाल के बारे में सोचने लगा था। हाँ, रामलाल आदमी बहुत बढ़िया है। उसने जो भी खेल-तमाशे सीखे हैं, सभी रामलाल से ही सीखे हैं। पिछले पैरों पर खड़े होकर तथा मुंह के ऊपर गेंद रखकर किस तरह नाचा जाता है, यह उसे रामलाल ने ही सिखाया था। पिछले पैरों पर खड़े होकर दोनों हाथों से दो गेंदों को किस तरह उछाल-उछाल कर रोका जाता है, यह भी उसे रामलाल ने ही सिखाया था।

छोटे-छोटे लड़के-लड़कियों को बादशाह का खेल देखने में बड़ा मजा आता। सच तो यह था कि बादशाह का खेल देखने के लिए ही दर्शकों की भीड़ उमड़ पड़ती। रामलाल ने ही उस भालू का नाम रखा था—बादशाह।

रेलगाड़ी में बैठा-बैठा बादशाह इन्हीं बातों में डूबा हुआ था कि अचानक न जाने कहाँ से आग की लपटें बादशाह की तरफ आने लगीं। धुआँ की गंध उसके लिए असहनीय हो उठी। वह परेशान हो उठा। आखिर आग कैसे लग गई···?

हठात् एक ही झटके में रेलगाड़ी रुकी और फिर उलट गई। रेलगाड़ी के डिब्बों के जंजीर से बँधे दरवाजे खुल गये। साथ-ही-साथ आग की लपटें डिब्बे के भीतर घुसने लगीं। बादशाह के साथ-साथ और भी बहुत-से जानवर थे। वे भी चौंक पड़े। सभी चीखने लगे—आग, आग, आग···।

इसी बीच मौका पाकर बादशाह बाहर कूद गया और खड़ा होकर चारों तरफ देखने लगा। रेलगाड़ी में सर्कस कम्पनी के जो लोग बैठे थे, वे इधर-उधर बेतहाशा दौड़ रहे थे। उसे क्या करना चाहिए, यह उसकी समझ में ही नहीं आया। चारों तरफ जंगल था। अँधेरे में कुछ भी दिखाई नहीं पड़ रहा था। इतनी बड़ी दुर्घटना हो गई थी, लेकिन दुनिया को इसकी खबर ही नहीं थी। रेलगाड़ी के गार्ड, ड्राइवर और हेल्पर आदि चारों तरफ भाग-दौड़ कर रहे थे। कोई शायद अगली स्टेशन की तरफ दौड़कर गया था ताकि दुर्घटना की खबर दी जा सके। थोड़ी ही देर में शायद उनका उद्धार करने के लिए लोग जुट जायेंगे। बादशाह बड़ी फिक्र में पड़ा हुआ था। उसने सोचा कि अगर रामलाल की नजर उस पर पड़ गई तो वह उसे तुरन्त पकड़ लेगा। बेहतर यही होगा कि झट-पट यहाँ से भाग चला जाये। यही मौका है। ऐसा मौका फिर कभी मिलने वाला नहीं।

और फिर बादशाह ने देर न की। उसने एक लम्बी छलाँग लगाई और देखते-ही-देखते वह जंगल के किसी कोने में गायब हो गया।

कब बचपन में एक दिन एक शिकारी ने उसे पकड़ लिया था। उस समय भला

उसकी उम्र ही कितनी थी ! मुश्किल से तीन या चार महीनों की उम्र रही होगी उसकी। उस समय भला उसमें समझ ही कितनी थी ? वह अपनी माँ के साथ हर समय रहा करता था।

माँ कहती—बेटा तू खूब होशियार रहा कर। मेरा साथ तू कभी भी छोड़ना नहीं। मैं जहाँ जाऊँ, तू भी मेरे साथ वहीं चला कर। तू अकेला कभी भी बाहर निकलना नहीं, बेटे।

बादशाह उस समय छोटा था। वह कुछ भी समझ नहीं पाता। अपनी माँ से वह पूछ बैठता—क्यों माँ, अकेले जाने पर क्या होगा ?

बादशाह पूछता—आदमी क्या होता है, माँ ?

बादशाह की माँ कहती—आदमी बड़ा ही बदमाश जानवर होता है। आदमी ही होता है हमारा दुश्मन। हमें देखते ही आदमी हमें पकड़कर ले जाता है।

—आदमी हमें पकड़ कर कहाँ ले जायेगा माँ ?

बादशाह की माँ कहती—आदमी पकड़ कर अपने घर ले जायेगा और लोहे के पिंजड़े में बन्द कर रखेगा।

—पिंजड़े में बन्द करके आदमी क्या करेगा माँ ?

माँ कहती—वह पिंजड़े में बन्द कर देगा और भरपेट खाना भी नहीं देगा। खूब मारेगा। वह पालतू बनाने के लिए लोहे की गरम सलाख से बदन को जगह-जगह पर दाग डालेगा।

बादशाह उस वक्त समझ नहीं पाता कि आखिर आदमी क्यों किसी भालू को पकड़ कर ले जायेगा और पिंजड़े में बन्द करेगा। इसमें भला आदमी को क्या फायदा होगा ? भालू को पालतू बना कर रखने में ही भला उसे क्या लाभ होगा ? आखिर भालुओं ने आदमी का क्या बिगाड़ा है कि आदमी उन्हें ऐसी सख्त सजा देगा ?

माँ कहती—बेटा, आदमी का स्वभाव ही ऐसा होता है। कोई उसे नुकसान पहुँचाये या नहीं, वह दूसरों को नुकसान जरूर पहुँचायेगा। इसीलिए तो कहती हूँ कि आदमी बड़ा ही खतरनाक जानवर होता है।

बादशाह अपनी माँ से पूछ बैठता—माँ, आदमी कहाँ रहता है ?

माँ कहती—आदमी रहता है शहरों में और गाँवों में। लेकिन वह तीर-धनुष और बन्दूक लेकर हमलोगों को पकड़ने के लिए जंगल में घुस आता है। यहाँ आकर वह बाघ, हिरण, बन्दर और भालुओं को पकड़ता है और कभी-कभी मार भी डालता है। इसीलिए तो मैं कह रही थी कि हमलोगों का सबसे बड़ा दुश्मन है आदमी। आदमी को जंगल में घुसते देखते ही हमलोग दुम दबाकर भाग जाया करते हैं। सचमुच आदमी बड़ा ही बदमाश होता है।

लेकिन बादशाह की माँ को जिस विपत्ति का डर था, एक दिन वह विपत्ति आ ही गई।

बादशाह एक दिन जंगल में अपनी माँ के साथ घूम रहा था। उस समय शाम हो गई थी। दिन भर भरपेट खाने के बाद दोनों घूमने निकले थे। आखिर माँ ने कहा—

चल, नदी में जाकर पानी पी आयें। पानी पीने के वाद घर लौट आयेंगे।

वादशाह को भी प्यास लग गई थी। वह भी अपनी मां के साथ नदी की तरफ वढ़ने लगा। जंगल जहाँ खत्म होता था, वहीं किनारे एक नदी वहती थी। कल-कल की आवाज करती हुई नदी वह रही थी। नदी में उतर कर वादशाह ने ज्योंही पानी पीना शुरू किया, त्योंही उसके ऊपर शिकारियों ने जाल फेंका।

वादशाह की माँ चौंक उठी। वह झट-पट एक तरफ दौड़ पड़ी। दौड़ते-दौड़ते वह चिल्ला रही थी—भाग आ मुन्ने, भाग आ। जाल को फाड़कर भाग आ।

किन्तु वादशाह जाल में फँसा रह गया। वह वेचारा जाल से मुक्त नहीं हो पाया। वह जितना ही जोर लगाता था, जाल और भी ज्यादा कसता जा रहा था। उसके वाद कुछ लोग वहाँ आ धमके और वे लाठियों से वादशाह को लगातार पीटने लगे। मार-मार कर उन्होंने वादशाह को अधमरा कर दिया।

वादशाह जोर-जोर से चिल्लाकर अपनी माँ को पुकारने लगा—माँ, माँ, ओ माँ···।

लेकिन कहाँ थी उसकी माँ? उसने चारों ओर दूर-दूर तक अपनी माँ को देखने की कोशिश की, लेकिन उसकी माँ दिखाई नहीं पड़ी। भालू पकड़ा गया है, यह सुनकर गांव के ढेरों लड़के-लड़कियाँ वहाँ दौड़े आये। वे एकटक वादशाह की तरफ देखने लगे। सभी कहने लगे—वाह, कितना वड़ा भालू जाल में फँसा है।

सभी लड़के-लड़कियाँ पतली-पतली छड़ी लेकर भालू के वदन को कोंचने लगे। लेकिन थोड़ी ही देर में भालू को पकड़ने वाले शिकारियों ने वच्चों को वहाँ से खदेड़ दिया। वे कहने लगे—जाओ, भागो यहाँ से ··।

उसके वाद वादशाह को लोहे के एक पिंजड़े में वन्द कर दिया गया। पिंजड़े समेत भालू को फिर एक नाव के [illegible] दिया गया। वादशाह चारों तरफ फटी-फटी आँखों से देख रहा था। नदी के [illegible] वहुत-से [illegible] उसे देखने के लिए जमा हो गये थे। रात भर नौका नदी [illegible] कर अपनी माँ की वातें याद आ रही थीं। माँ कहा [illegible] है। वह भालू

उनका घर था एक खुले मैदान में। बादशाह ने देखा कि वहाँ और भी तरह-तरह के जानवर थे। बाघ, सिंह, ऊँट और घोड़े—सभी थे। और भी कई प्रकार के जानवर वहाँ मौजूद थे। सबों को जंगल से पकड़ा गया था।

यहीं पहले-पहल बादशाह की मुलाकात रामलाल बाबू के साथ हुई थी।

रामलाल ने बादशाह के मुँह के पास अपना मुँह लाकर पूछा था—क्यों रे, मैं तुझे जो-जो खेल-तमाशे सिखाऊँगा, तू सीख सकेगा तो?

बादशाह भला उसकी बातों का क्या जवाब देता? वह कुछ भी कह नहीं सका। वह चुप्पी साधे खड़ा रहा।

उसके बाद वाले दिन से ही बादशाह की ट्रेनिंग शुरू हो गई।

दरअसल बहुत दिनों के बाद बादशाह को इस बात का पता चला था कि वह एक सर्कस कम्पनी थी। सर्कस कम्पनी का काम था गाँव-गाँव में और शहर-शहर में घूमना और अपने खेल दिखाना। सर्कस कम्पनी वाले कभी कलकत्ता जाते, कभी दार्जिलिंग जाते, कभी लखनऊ जाते, कभी कानपुर जाते, कभी राँची जाते तो कभी जाते रायबरेली। या फिर कभी-कभी वे जाते दिल्ली, बम्बई और मद्रास भी। इस दौरान देश-विदेश में बादशाह खूब घूम चुका था।

कहा जा सकता है कि बादशाह को जो कुछ भी इज्जत मिली थी, वह रामलाल की वजह से ही।

रामलाल ने उसे भाँति-भाँति के खेल सिखाये थे। बादशाह का एक खेल बहुत पसन्द किया जाता था। बादशाह अपने पिछले पैरों के बल खड़ा हो जाता और रामलाल उसकी नाक पर एक छोटी-सी छड़ी रख देता। बादशाह ता-ता-थइया करके नाचता, लेकिन छड़ी को गिरने नहीं देता। रामलाल के उस खेल का नाम था—"बैलेंस का खेल।"

और भी बहुत-से खेल बादशाह ने सीखे थे। वह दो गेंदों को लेकर उछालता जाता और फिर रोकता जाता। कभी वह एक बड़े फुटबॉल के ऊपर खड़ा होकर उसे लुढ़काते हुए सामने की तरफ ले जाता और फिर उसी तरह वह उस फुटबॉल को पीछे की तरफ ले आता। तालियों की आवाज से पूरा वातावरण गूँज उठता।

जंगल के बीच चलते-चलते बादशाह इन्हीं बातों में खोया हुआ था। चलो अच्छा ही हुआ, इतने दिनों के बाद रामलाल से छुटकारा तो मिला। अब कोई उसके ऊपर हुक्म चलाने वाला नहीं। उसे अब रामलाल के इशारे पर नाचने की जरूरत नहीं। चलो पिण्ड छूटा। आज से वह आजाद है, बिलकुल आजाद···।

आहिस्ता-आहिस्ता सुबह हो गयी। बादशाह को याद आया कि ठीक इसी वक्त वह अपनी माँ के साथ खाने की तलाश में जंगल में निकला करता था। कहाँ पानी मिलेगा, कहाँ शहद मिलेगा और कहाँ खाने की बढ़िया-बढ़िया चीजें मिलेंगी, यह सब उसकी माँ को मानो जुबानी याद था। बादशाह की माँ उसे लेकर रोज अलग-अलग जंगलों में जाती। वहाँ उसकी माँ खुद भी जी-भर खाती और उसे भी खिलाती।

माँ कहा करती—तू कहीं भी अगर जायेगा तो तुझे होशियारी से चारों तरफ

नजर रखनी पड़ेगी। तू हमेशा ध्यान रखेगा कि कहीं कोई शिकारी तुझे पकड़ने की घात में तो नहीं है।

इस जंगल में कहीं भी आदमी का नाम-निशान तक नहीं था। वह अपनी मर्जी के मुताबिक घूम-फिर सकता था। वह निर्भय और निडर होकर आराम से चारों तरफ घूमने लगा। अचानक उसे पुरानी बातें याद आने लगीं। उन दिनों सुबह-सुबह ही रामलाल उसके पिंजड़े के पास उसका खाना लेकर आता।

कहता—ले बादशाह, खाना खा ले।

पिंजड़े में बन्द रहने के दौरान उसे खाने-पीने की कोई फिक्र नहीं थी। ठीक घड़ी देखकर उसे खाना मिल जाता था। आज दिन इतना चढ़ आया, उसके बाद भी उसे खाने को कुछ न मिला। भूख के मारे वह बेचैन होने लगा। इतने दिनों से समय पर खाने की उसकी आदत बन गई थी। लेकिन आज वह नियम टूट गया।

चलते-चलते हठात् उसने देखा कि सामने हरिणों का एक दल चर रहा था। बादशाह ने सोचा कि ये हरिण भी तो उसी की तरह जंगली जीव हैं। यह सोचकर बादशाह हरिणों के उस झुण्ड की तरफ आगे बढ़ा।

बादशाह ने दूर से ही पुकार कर कहा—सुनो भाई, मेरी बात सुनो।

हरिणों के कान खड़े हो गये। उन्होंने चरना बन्द कर दिया और वे सतर्क हो गये।

बादशाह ने कहा—भाई, मैं इतने दिनों तक एक सर्कस कम्पनी में था। अब जाकर मुझे मुक्ति मिल पाई है। क्या तुम लोग बता सकते हो कि यहाँ भालुओं का दल किधर रहता है?

यह कहते-कहते बादशाह उन हरिणों की तरफ आगे बढ़ा। लेकिन तब तक पल भर में हरिणों का दल भाग खड़ा हुआ।

हरिणों के इस बर्ताव से बादशाह के मन में बड़ी तकलीफ हुई। इतने दिनों तक आदमियों के दल में रहने के कारण क्या वह जंगल के जानवरों के लिए आज पराया हो गया था? या फिर उसे देखकर हरिण डर गये थे? भगवान जाने, क्या बात थी!

जंगल के बीच पेड़ों के पत्तों के आपस में टकराने से विचित्र-सी आवाज हो रही थी। बादशाह पहले भी यह आवाज सुन चुका है। बचपन में वह इस आवाज से बेहद डरा करता था। लेकिन आज वह जान चुका था कि इस आवाज से डरने की कोई बात नहीं।

धीरे-धीरे धूप तेज होने लगी। अचानक सामने से एक सियार गुजरा, लेकिन उसे देखते ही वह सियार क्षण भर में ही पास की झाड़ियों में गायब हो गया। बादशाह की समझ में यह बात आ नहीं पाई कि आखिर उसे देखकर सभी जंगली जानवर डर क्यों रहे हैं! पहले तो ऐसा नहीं होता था। आदमियों की संगति में रहकर भला उसने कौन-सा कसूर कर दिया, यह उसकी समझ में नहीं आ पा रहा था।

अचानक पास के पेड़ की एक डाल पर बैठी कोयल कुहू-कुहू की मीठी आवाज में गा उठी।

बादशाह ने मुंह उठाकर कोयल की तरफ देखा। उसे कोयल की आवाज बड़ी मीठी लगी थी।

बादशाह ने कोयल से पूछा—क्यों कोयल रानी, मुझे पहचान तो रही हो? क्या तुम बता सकती हो कि मेरी मां कहां पर है?

कोयल बादशाह की बात समझ पाई या नहीं, कहा नहीं जा सकता। लेकिन वह पल भर में उड़ कर वहां से अदृश्य हो गई।

बादशाह मन-ही-मन सोचने लगा—हाय राम, इन थोड़े-से ही दिनों में लगता है कि यह दुनिया पूरी तरह बदल गई है। पहले तो ऐसा नहीं होता था। पहले तो सभी एक-दूसरे से प्यार किया करते थे। पहले तो जंगल के सभी प्राणी उसके साथ बातें किया करते थे और दोस्ती का बर्ताव किया करते थे। इन कुछ ही वर्षों में कैसा बदलाव आ गया है!

यही क्यों, जंगल भी पहले की तरह घना नहीं रह गया था। बहुत-से पेड़ काट डाले गये थे। उस तरफ फूलों के बहुत-से पौधे हुआ करते थे। भांति-भांति के फूल खिला करते थे। लेकिन अब तो वहां सिर्फ कंटीली झाड़ियां नजर आ रही थीं। बादशाह बड़े ही सोच में पड़ गया। आखिर ऐसा कैसे हो गया?

इसी तरह घूमते-फिरते दोपहर बीत गई: बादशाह के पैरों में दर्द होने लगा। इतना घूमने-फिरने की उसकी आदत ही बहुत दिनों से छूट चुकी थी। पिंजड़े में बन्द रहने के कारण अब उसकी हालत ऐसी हो गई थी कि थोड़ी दूर चलने पर ही उसके पैर जवाब देने लगते।

और फिर देखा जाये तो वह अब आजाद था। उसके शरीर में तो और भी शक्ति आ जानी चाहिए थी। अब उसे रामलाल की चाबुक का डर नहीं था। अब वह दिन-रात मजे में सोया रह सकता था। अब उसे रोकने-टोकने वाला कोई न था।

धीरे-धीरे शाम हो गई।

बादशाह फिर आगे बढ़ा। अचानक बगल से एक लकड़बग्घा गुजर गया। परंतु अपने बादशाह की तरफ नजर तक नहीं डाली, दुआ-सलाम की तो बात ही दूर थी। मानो बादशाह कोई भालू न था—था कोई पेड़ या शिला-खंड।

अचानक बादशाह की नजर भालुओं के दल पर पड़ी। बादशाह के मन में आशा की किरण जगमगाई। हां, ये सब तो उसी की जाति के थे।

उसने जोर से पुकार कर कहा—ओ भाई, जरा सुनो तो।

बादशाह की पुकार सुनकर वे भालू रुक गये।

बादशाह दौड़कर उन भालुओं के पास पहुंच जाना चाहता था।

वह दौड़ते-दौड़ते कहने लगा—भाई, मैं आदमियों के दल से भागकर तुम लोगों के पास आया हूं। यह देखो, मेरे गले में जंजीर नहीं है। मेरी नाक में डोरी भी बंधी हुई नहीं है। मैं अब आजाद हूं—पूरी तरह से आजाद।

बादशाह को देखकर भालू खड़े हो गये थे। लेकिन जैसे ही बादशाह पहुंचने लगा, वे भालू भी दूर हटते गये।

बादशाह कहने लगा—तुम लोग मुझे देखकर भाग क्यों रहे हो ? मुझसे डर रहे हो क्या ? देखो, मैं भी एक भालू हूँ; तुम्हारी ही जाति का। मैं तो इसी जंगल में तुम लोगों की तरह ही बड़ा हुआ हूँ। मैंने भी तो तुमलोगों की तरह ही एक दिन इसी जंगल में जन्म लिया है। शिकारियों ने मुझे जाल में फँसा लिया था, इसीलिए मुझे इतने दिनों शहर में रहना पड़ा। अब मैं उनकी कैद से मुक्त होकर यहाँ भाग आया हूँ। तुमलोग मेरे पास आओ न भाई, मेरी बातें तो सुनो···।

बादशाह की बातें सुनकर भालुओं का दल फिर रुक गया।

इसी बीच बादशाह ने एक क़ाण्ड कर डाला। पास से एक छड़ी लेकर उसने अपनी नाक के ऊपर रख ली और वह अपने पिछले पैरों पर खड़ा हो गया। उसके बाद ही वह रामलाल के द्वारा सिखाया गया 'बैलेंस का खेल' दिखाने लगा।

दूर खड़े भालू बादशाह का यह खेल देखकर बेहद घबड़ा गये।

इधर बादशाह ने सोचा कि उसके 'बैलेंस के खेल' को देखकर वे भालू बहुत प्रभावित हुए हैं। उसने फिर पास से दो ढेले उठा लिये। वह उन ढेलों को लेकर उछालने और रोकने लगा। मानो वह कह रहा था—देखो, मैं कैसे-कैसे निराले खेल सीख कर आया हूँ।

उसके बाद बादशाह ने उन भालुओं से कहा—मैं इस तरह के बहुत-से खेल जानता हूँ। मैं तुम्हें भी ये खेल सिखा दूँगा। तुम लोग मेरे पास आओ भाई। मेरी माँ कहाँ है, मुझे जरा बता दो भाई। मैं अपनी माँ के पास जाना चाहता हूँ।

अब वे भालू वहाँ और रुक न सके। उन्होंने बादशाह के अजीब खेल देखने के बाद वहाँ से भाग निकलने में ही अपनी भलाई समझी। उन्होंने सोचा कि यह भालू आदमियों का जासूस है और उन्हें मीठी-मीठी बातों से फुसला कर पकड़वाने के लिए आया है। या फिर वह जादू-टोना जानने वाला भालू है और उन्हें जादू-टोने के बल पर वह पकड़वा देगा।

फिर तो देखते-ही-देखते वे भालू भाग खड़े हुए।

बादशाह की आँखों में आँसू आ गये। और वहाँ खड़ा नहीं रह पाया। एक तो उसे खाना नहीं मिला था और दूजे लगातार चलते-चलते वह बेहद थक गया था। निराशा, पीड़ा और भूख से कातर होकर बादशाह वहीं जमीन पर गिर पड़ा।

'दि ग्रेट इण्डियन सर्कस कम्पनी' वालों ने फिर दार्जिलिंग शहर में तम्बू गाड़ दिया था। लेकिन सर्कस के मालिक का मन बड़ा उदास था। बादशाह के न होने पर टिकटों की बिक्री बहुत कम हो गई थी। सर्कस कम्पनी को काफी नुकसान हो रहा था। रामलाल को भी बेकार ही बिठाकर तनख्वाह देनी पड़ रही थी। अब फिर काफी रुपये खर्च कर एक नया भालू खरीदना पड़ेगा और उसे नये सिरे से सारे खेल सिखाने पड़ेंगे। इसमें काफी समय भी लगेगा और बहुत-से रुपये भी बर्बाद होंगे। लेकिन तब तक यह सर्कस चलेगा कैसे ? वैसे भी एक बार स्पेशल रेलगाड़ी में आग लग जाने की वजह से सर्कस कम्पनी को

बहुत नुकसान हो चुका था। और अब भी बादशाह के न रहने के कारण टिकटें बहुत कम बिक रही थीं। नुकसान पर नुकसान होता जा रहा था।

उस दिन खेल शुरू होने ही वाला था। बीच शहर में सर्कस कम्पनी वालों ने तम्बू लगाया था। बाहर रोशनी की जगमगाहट देखने लायक थी।

हठात् सभी डर के मारे काँप उठे। जो लोग बाहर खड़े थे, वे अचानक एक खुले भालू को देखकर इधर-उधर भागने लगे। गेट पर बहादुर दरबान पहरा दे रहा था। उसने भालू को ठीक-ठीक पहचान लिया।

उसने कहा—अरे, तू तो हमलोगों का बादशाह है न ?

लेकिन बादशाह ने मानो उसकी बातें सुनी ही नहीं। वह झट-पट गेट का परदा ठेलते हुए भीतर घुस पड़ा।

तुरत ही रामलाल के पास खबर भेजी गई। खबर पाते ही रामलाल दौड़ा आया खुशी के मारे रामलाल मानो अपने-आप को भुला बैठा था।

रामलाल ने बादशाह को गले से लगा लिया। उसने कहा—अरे बादशाह, तू ? तूने आज मुझे बचा लिया। तेरी वजह से तो मेरी नौकरी ही चली जाने वाली थी।

बादशाह भी रामलाल को देखकर बड़ा खुश हुआ।

बादशाह ने कहा—मैं लौट आया हूँ रामलाल बाबू। मेरी अपनी ही बिरादरी के भालुओं ने मुझे स्वीकार नहीं किया। उन्होंने मुझे ठुकरा दिया है। इसीलिए मैं फिर आप लोगों के पास लौट आया हूँ।···मुझे बड़ी भूख लगी है रामलाल बाबू। मुझे कुछ खाने को दीजिए।

रामलाल बादशाह की भाषा समझ नहीं पाया। उसकी समझ में इतना ही आया कि बादशाह अपनी बिरादरी वालों से ठुकरा दिये जाने के कारण ही लौट आया है।

रामलाल ने बादशाह के सामने खाना मँगाकर रखा और पूछा—क्यों रे, अब तू कभी यहाँ से भागेगा तो नहीं ?

बादशाह ने खाना खाया और भरपेट पानी पिया। उसके बाद उसने कहा—नहीं रामलाल बाबू, अपनी बिरादरी वालों के पास अब मैं जीवन में कभी भी लौट कर नहीं जाऊँगा। बिरादरी वाले अपनों में से किसी की भी उन्नति देख नहीं सकते। मेरे लिए तो पराये ही भले हैं···

पन्ना जोगलेकर

शुरू-शुरू में मैं पहचान ही नहीं पाया।

मैंने फिर पूछा—कौन ? कौन हैं आप ?

टेलीफोन पर किसी महिला की आवाज सुनाई पड़ी—मैं पन्ना जोगलेकर बोल रही हूँ।

पन्ना जोगलेकर ! मैं फिर भी पहचान नहीं पाया। इस नाम की किसी महिला को तो मैं जानता नहीं···।

उस महिला ने फिर चिल्ला कर कहा—मेरा नाम पन्ना जोगलेकर है। मुझे भूल गये क्या ? आपके साथ मेरा कितना घनिष्ठ परिचय था। याद कीजिए, आपकी ही कहानी पर बनी फिल्म 'माधवी लता' में मैंने नायिका की भूमिका की थी। याद कीजिए आप ही ने बम्बई जाकर नायिका के रूप में मेरा चुनाव किया था। क्या आपको कुछ भी याद नहीं आ रहा है···?

हठात् मुझे सारी बातें याद आने लगीं। लेकिन ये बातें तो कितनी पुरानी हैं। एक अरसा बीत गया होगा···।

मैंने कहा—हाँ, हाँ पन्ना देवी ! अब आपको मैं पहचान गया हूँ। कब आईं आप बम्बई से ? कलकत्ता में कहाँ रुकी हैं ?

उस महिला ने बहू बाजार स्ट्रीट के किसी मकान का पता बताया।

उस महिला ने कहा—मैं आपके साथ एक बार मुलाक़ात करना चाहती हूँ। किस वक्त आपसे मुलाकात हो सकेगी, बताइए। मैं आपके घर पर चली आऊँगी।

मैंने कहा—आप भला क्यों तकलीफ उठायेंगी। मैं खुद ही आपके दिये पते पर आज शाम को चला आऊँगा। आप घर पर ही रहेंगी तो ?

पन्ना जोगलेकर ने कहा—हाँ-हाँ, जरूर।

मैंने टेलीफोन का रिसीवर रख दिया। साथ-ही-साथ मैं पुरानी यादों के समुद्र में डूबने-उतराने लगा। पन्ना जोगलेकर···। वही पन्ना जोगलेकर, जिसकी तस्वीर सिने-अखबारों में पूरे पृष्ठ पर छपती थी। जिसे अपनी पिक्चर में हिरोइन के बतौर साइन

करने के लिए प्रोड्यूसरों की कतार लगी रहती थी···, एक-एक फिल्म में अभिनय करने के लिए जिसे लाखों रुपये मिला करते थे···, जिसकी तस्वीर सीने से लगाये नौजवान आहें भरा करते थे···, वही पन्ना जोगलेकर ! लेकिन ये बातें तो कितनी पुरानी हैं। आज तो पन्ना जोगलेकर का कोई नाम भी नहीं जानता होगा। उसी पन्ना जोगलेकर ने इतने दिनों के बाद—इतने वर्षों के बाद कलकत्ता आकर मुझे टेलीफोन किया है और मुझसे मिलने की इच्छा प्रगट की है। लेकिन कैसा है विधाता का यह परिहास ? पन्ना जोगलेकर सरीखी लोकप्रिय अभिनेत्री को आखिर गुमनामी के अँधेरे में क्यों खो जाना पड़ा ? आखिर इसकी वजह क्या है ? बहुत माथा-पच्ची करने पर भी मैं उसका कोई विशेष कारण ढूंढ़ नहीं पाया। पन्ना जोगलेकर के चरित्र में 'शो-मैन-शिप' कूट-कूट कर भरी थी। तो क्या यही 'शो-मैन-शिप' ही पन्ना देवी के पतन का कारण बनी···?

बहुधा नवोदित लेखक मेरे पास आया करते हैं और पूछते हैं—दादा, श्रेष्ठ लेखक बनने की सबसे बड़ी शर्त क्या है ?

मैं मुसकराते हुए कहता हूँ – वह शर्त बड़ी ही कठिन शर्त है।

वे पूछते हैं—लेकिन वह शर्त आखिर है क्या ?

मैं कहता हूँ—वह शर्त है अपने-आप को छुपा कर रखने की, आत्मगोपन कर रखने की। श्रेष्ठ लेखक बनने के लिए लेखक को स्वयं को नेपथ्य में रखना होगा। उसे 'शो-मैन-शिप' का परित्याग करना होगा। लेकिन आजकल तो चारों ओर स्वयं को बड़ा —और भी बड़ा बनाने की होड़ मची हुई है। सभी सबों से आगे बढ़ निकलने की फिक्र में हैं। यह शर्त—यह साधना बड़ी ही मुश्किल है भाई···। कमल का पत्ता जल में रहता है, लेकिन भीगता नहीं। कुछ इसी तरह का व्यक्तित्व बनाना होगा।

मैं कह नहीं सकता कि मेरी ये बातें उन नवोदित लेखकों के पल्ले पड़ती हैं या नहीं। आज पन्ना देवी का फोन आने के बाद मन फिर से इन विचारों में डूब गया। पन्ना जोगलेकर के चरित्र में 'शो-मैन-शिप' कूट-कूट कर भरी हुई थी। मुझे पन्ना जोगलेकर की एक-एक बात याद आने लगी।

सच पूछिए तो अभिनय भी एक तरह का 'शो' ही है। जो लोग अभिनेताओं और अभिनेत्रियों को लेकर सिनेमा का काम करते हैं, उन्हें कहा जाता है—'शो-बिजनेसमैन'। इस व्यवसाय में 'शो' ही सब कुछ है। लेकिन बाहर की चमक-दमक के परे सबों का जीवन हमलोगों की तरह ही तेल-नोन-लकड़ी से जुड़ा हुआ है। इस मामले में हमारे और अभिनेता-अभिनेत्रियों के जीवन के बीच कोई फर्क नहीं है। वहाँ भी वही हास्य-रुदन है और है दौलत और शोहरत की चूहा-दौड़। जिसकी किस्मत में लिखा होता है, वह पा लेता है। लेकिन जो कुछ भी हासिल नहीं कर पाता, वह पराजित मान लिया जाता है। वहाँ भी लहू का रंग लाल और आँसुओं का स्वाद नमकीन होता है।

मुझे कई बार थियेटर और सिनेमा के सम्पर्क में आना पड़ा है। अपने लेखक-जीवन में मैंने अपने घर की चहारदीवारी में अपने-आप को सीमाबद्ध करने की जितनी

भी कोशिशें क्यों न की हों, कई बार मैं अभिनेता-अभिनेत्रियों की घनिष्ठता को टाल नहीं सका। जल में वास करूं और वदन पर जल की बूंद भी न पड़े, ऐसी 'सहजिया साधना' में मैं सिद्ध नहीं हो पाया···।

मेरी एक कहानी पर फिल्म बनने के सिलसिले में मुझे एक बार बम्वई जाना पड़ा था। उन दिनों अभिनेत्री पन्ना जोगलेकर का बड़ा नाम था। उसका एक पैर बम्वई में रहता, तो एक मद्रास में। अभिनय करने में वह जैसी सिद्धहस्त थी, वैसी ही प्रसिद्ध भी। और उसके ऊपर वह थी परले दर्जे की घमण्डी। खैर, किसी के घमण्डी होने से भला मेरा क्या वनता-विगड़ता था ?

पन्ना जोगलेकर का नाम मैंने जरूर सुना था, लेकिन कभी उसे देखा न था। सिनेमा की कहानी के रूप में मेरी कहानी का चुनाव हो चुका था। निर्माता ने कहानी खरीद भी ली थी। लेकिन अव तक नायिका चुनी नहीं जा सकी थी।

जो सज्जन उस फिल्म के निर्माता थे, वही थे निर्देशक भी। यानी जिसे आप कह सकते हैं प्रोड्यूसर-डायरेक्टर। नाम था मिस्टर आर्यनायकम्।

आर्यनायकम् साहव वड़े ही बुद्धिमान आदमी थे। यों तो साधारण बुद्धि वहुतों के पास होती है। वकील, डॉक्टर, इंजीनियर—सबों में वह बुद्धि होती है। बुद्धि नहीं होने पर जिन्दगी में उन्नति नहीं की जा सकती। लेकिन आर्यनायकम् साहव में एक और खास चीज थी। वह चीज थी रसवोध···।

एक छोटा-सा शब्द—रसवोध। सुनने में बड़ा सरल लगता है यह। लेकिन दरअसल यह है एक वहुत वड़ी चीज। दुनिया में चार पैसे किस तरह वचाये जा सकते हैं, वह वुद्धि कोई वैसी दुर्लभ नही। वह तो आदमी के लिए सहज और स्वाभाविक है···। इसके लिए पढ़ाई-लिखाई या विद्या-बुद्धि की वैसी कोई जरूरत नहीं होती। जिस तरह आत्मरक्षा एक स्वाभाविक जैव धर्म है, यह भी है ठीक उसी तरह का।

लेकिन रसवोध ?

गायन सही सुर में हो रहा है या वेसुरा, यह जानने के लिए श्रोता को सदैव संगीतज्ञ ही होना होगा; ऐसी वात नहीं। गायन या गायन के सुर का ज्ञान नहीं होने पर भी यह वताया जा सकता है कि गायन सुर-युक्त है या वेसुरा। इसी चेतना का नाम है रसवोध।

कहानी में भी रस होता है। उस रस की हरेक पाठक-पाठिका को पहचान नहीं होती। और सिर्फ पाठक-पाठिका ही क्यों, वहुतेरे सम्पादक भी उस रस को पहचानने में चूक जाते हैं। ऐसा भी देखा गया है कि जो रचना वहुत-से सम्पादकों के पास से अस्वीकृत होकर वापस आ चुकी होती है, वही रचना वाद में लाखों-लाख पाठक-पाठिकाओं को आनन्दित करने वाली सिद्ध होती है। साहित्य के इतिहास में ऐसी नजीरों की कमी नहीं।

सो आर्यनायकम् साहव में वह रसवोध मौजूद था। शायद वे इसीलिए कदम-कदम पर मेरी सलाह लिया करते थे। नायक-नायिका कैसी धोती या साड़ी पहनेंगे, उनका मेकअप कैसा होगा; इनके वारे में भी वे मेरा परामर्श लिया करते थे। और यूं

देखा जाये तो भला मैं सिनेमा के बारे में जानता ही क्या हूँ ! मैं सिनेमा बिल्कुल देखता ही नहीं। फिर भी सिनेमा देखना और सिनेमा के निर्माण से सम्बन्धित बारीकियों को समझना तो एक ही बात नहीं है।

सो वे हठात् मुझे ट्रंक-कॉल कर बैठते।

कहते—क्या आप एक बार बम्बई आ सकेंगे ? एक जरूरी काम है···।

साथ-ही-साथ मैं अपना काम-काज छोड़कर बम्बई के लिए रवाना हो जाता। बम्बई जाने पर देखता कि वैसा कोई विशेष काम नहीं होता। सिर्फ फिल्म की पटकथा में कहीं कोई उलझन आ गई होती, जिसे मैं सुलझा दिया करता।

एक बार फिर इसी तरह आयंनायकम् साहब का बुलावा आया। वहाँ जाकर मैंने सुना कि मुझे ही नायिका का चुनाव करना होगा। यानी जो अभिनेत्री नायिका की भूमिका करेगी, उसे मुझे ही अपनी पसन्द के मुताबिक चुनना होगा।

नायिका का चुनाव करने का तरीका भी बड़ा विचित्र था। एक-एक दिन एक-एक अभिनेत्री को भोजन के लिए निमंत्रित किया जाता। हमलोग सभी उस अभिनेत्री के साथ भोजन करते। उसके बाद जब वह अभिनेत्री वहाँ से चली जाती, तब आयंनायकम् साहब मुझसे पूछते—कहिए विमल बाबू, कैसी लगी यह अभिनेत्री ? क्या इनको फिल्म की हीरोइन के लिए चुना जा सकता है ?

मैं भला अभिनय के सम्बन्ध में जानता ही क्या हूँ ? फिर भी नायिका का चुनाव करने की जिम्मेवारी मेरे ऊपर सौंप दी गई थी।

इस तरह करीब एक माह तक यह चयन-प्रक्रिया चली। कोई भी अभिनेत्री मुझे जँची नहीं। आखिरकार मैंने पन्ना जोगलेकर को पसन्द किया।

पन्ना जोगलेकर सचमुच ही एक प्रतिभाशालिनी अभिनेत्री थीं। उस जमाने में ही उसका रेट था तीन लाख रुपये।

उन दिनों तीन लाख रुपयों का रेट सबसे ऊंचा माना जाता था।

लेकिन मेरी कहानी की नायिका के साथ उसका हाव-भाव और चेहरा-मोहरा इस प्रकार मिल गया था कि मैंने उसका चुनाव करने में किसी तरह की दुविधा का अनुभव नहीं किया। अगर रुपये ज्यादा खर्च होते हैं, तो भी कोई बात नहीं।

पन्ना जोगलेकर अगर रुपये ज्यादा लेती थी, तो काम भी बहुत उम्दा करती थी। उसके नाम से पिक्चर की टिकटें बेहिसाब बिकतीं। अतएव इस मामले में आयंनायकम् साहब को कोई जोखिम नहीं था। बल्कि नायिका के रूप में उसके चुनाव से आयंनायकम् साहब खुश ही थे।

इसके बाद ही मेरे साथ पन्ना देवी के विचार-विमर्श का दौर शुरू हुआ। मेरी ड्यूटी थी पन्ना जोगलेकर को उसकी भूमिका के बारे में विस्तार-पूर्वक समझा देना।

इसी सूत्र से मैं पन्ना जोगलेकर के साथ घनिष्ठ होने का सुयोग पा सका। एक नियत समय पर आयंनायकम् साहब की गाड़ी मुझे पन्ना जोगलेकर के घर तक पहुँचा दिया करती। उसके बाद कुछेक घंटे बीतने के बाद मैं आयंनायकम् साहब की गाड़ी में ही अपने होटल तक लौट आता।

कई दिनों तक यह सिलसिला चला।

मैं पन्ना जोगलेकर को देखकर हैरान रह जाता। मैं उसकी बातें ध्यान से सुनता। मेरे साथ हो रही बातचीत के बीच कई बार पन्ना देवी का टेलीफोन आता। पन्ना देवी बगल के कमरे में जाकर काफी देर तक टेलीफोन पर बात करती और उसके बाद फिर मेरे पास वापस आ जाती। उसके बाद हम लोगों का डिस्कशन फिर शुरू होता।

इस क्रम में बहुत-सी अप्रासंगिक बातें भी होतीं।

मेरे साथ थोड़ी-सी घनिष्ठता होने के बाद ही मानो पन्ना जोगलेकर बिल्कुल दूसरी ही औरत बन गई थी।

मेरे पहुँचते ही वह पूछती—आज आप क्या खायेंगे विमल दा, बताइये तो ?

मैं कोई भोजन-रसिक आदमी तो हूँ नहीं। खाने के मामले में मुझे किसी तरह का लोभ नहीं। फिर भी पन्ना जोगलेकर मुझे जोर-जबर्दस्ती कोई विशेष व्यंजन खिलाये बिना मानती नहीं।

लोगों के मुँह से मैंने पन्ना जोगलेकर के बारे में बहुत-कुछ सुना था। मैं सोचता था कि वह बहुत ही घमण्डी अभिनेत्री होगी। घमण्डी ऐसी कि वह किसी दूसरे आदमी को आदमी ही नहीं समझती। उसके पास रुपयों की ऐसी गर्मी है कि रुपये फेंकने पर भी वह टस-से-मस नहीं होती। उसके बारे में निर्माताओं की धारणा बड़ी ही अप्रिय थी।

लेकिन पन्ना जोगलेकर के करीब जाकर मैंने उसे बिलकुल ही अलग पाया। मेरे साथ उसका व्यवहार बड़ा ही निश्छल था, बड़ा ही आत्मीय। उसका घर-द्वार आधुनिक रीति से सज्जित था। बेशुमार रुपये खर्च कर उसने विलासिता के आधुनिकतम उपादान जुटा रखे थे। वे सभी उपादान अत्यन्त कीमती थे। लेकिन पन्ना जोगलेकर खुद बड़ी ही सीधी-सादी थी। वह एक साधारण-सी रोज इस्तेमाल की जाने वाली साड़ी पहनकर मेरे सामने आती।

मैंने एक दिन पन्ना जोगलेकर से कहा—आपके बारे में तो लोग-बाग तरह-तरह की बातें बनाते हैं। लेकिन मैं तो देख रहा हूँ कि आप भी एक आम हिन्दुस्तानी औरत की तरह ही मामूली औरत हैं।

—क्यों ? लोग-बाग क्या कहते हैं मेरे बारे में ?

मैंने कहा—लोग कहते हैं कि आप बड़ी घमण्डी हैं। वे यह भी कहते हैं कि आप तो आदमी को आदमी नहीं समझतीं।

पन्ना देवी हँस पड़ी। उसने पूछा—क्या आपकी भी यही धारणा है ?

मैंने कहा—मेरी बात छोड़िए।

—लेकिन आप तो इतने दिनों से मुझे देख रहे हैं। क्या आपने मुझे लोगों की बातों के अनुरूप पाया है ?

मैं इस बात का भला क्या जवाब देता ? मैं चुप ही रहा। इस बात का उत्तर मैंने दिया ही नहीं।

पन्ना देवी ने मुझसे कहा—देखिए, बाहर के जो लोग मुझे देखते हैं, वे मेरे मुखौटे को ही देखते हैं। मुखौटे को देखकर ही अपनी धारणा बनाते हैं। लेकिन इससे मेरा कुछ

बनता-बिगड़ता नहीं। मैं जो हूँ, वही रहूँगी। उससे मेरा कुछ भी उन्नीस-बीस होने वाला नहीं।

पन्ना देवी ने कुछ रुककर फिर कहा—अगर मुझे रुपयों का घमण्ड होता, तो क्या मैं इस तरह आपके पास बैठी-बैठी आपसे बातें करती? आपको क्या मैं अपने इस ड्राइंग-रूम में बुलाती? सच तो यह है कि मैं खुद गरीब माँ-बाप की बेटी हूँ। गरीबों का दुख मैं जिस तरह समझ सकती हूँ, उस तरह और कितने आदमी समझ सकते हैं? क्या आप जानते हैं, बचपन में रुपयों की तंगी के कारण कितने ही दिन हमें उपवास करके गुजारने पड़े हैं। क्या मैं यह कभी भूल सकती हूँ?

कहते-कहते पन्ना जोगलेकर की आँखें भर आईं।

पन्ना देवी फिर कहने लगी—लोग सिर्फ मेरे रुपये ही देखते हैं, लेकिन कोई मेरे मन के कोने में झाँककर नहीं देखता कि वहाँ कितना हाहाकार मचा हुआ है। अगर वे मेरे मन में झाँक पाते, तो वे मेरे बारे में ऐसी बातें कभी नहीं करते। आपको मालूम है या नहीं, कह नहीं सकती। फिर भी यह सुन रखिए कि मैं अपना खाना खुद अपने हाथों से पकाती हूँ।

मैं पन्ना जोगलेकर की बातें सुनकर हैरान रह गया था।

मैंने कहा—यह क्या? आप खुद अपने हाथों से खाना पकाती हैं?

पन्ना जोगलेकर ने कहा—भई, आखिर मुझे भी तो खाने की जरूरत होती है। अपना खाना खुद पकाने में भला शर्म की क्या बात है? और क्या सिर्फ यही? मैं खुद घर को झाड़ू से साफ करती हूँ। मसाले पीसती हूँ।

मैं और भी हैरान रह गया। मैं हैरानी से उनके मुँह की तरफ देखता रहा।

पन्ना देवी ने पूछा—इसमें आपको ताज्जुब क्यों हो रहा है?

मैंने कहा—फिल्मी पत्रिकाओं में तो आपके बारे में कुछ और ही छपता रहता है। मैंने पढ़ा है कि आपके घर में दस बावर्ची हैं, पन्द्रह नौकर हैं और उनके अलावा [illegible]।

पन्ना देवी ने कहा—मेरे घर में बहुत-से नौकर-नौकरानियाँ जरूर हैं। पत्रिकाओं में जो कुछ छपा है, वह करीब-करीब ठीक ही है। लेकिन क्या मैंने नौकर-नौकरानियों को अपनी सेवा के लिए रखा है?

—तो फिर? तो फिर आपने इन्हें क्यों रखा है?

पन्ना देवी ने कहा—जानते हैं, वे सब कितने गरीब हैं! अगर मैं उन्हें नौकरी न देती, तो वे भूखों मर जाते। उनमें से बेकार न रखकर उन्हें पैसे देकर खटाती हूँ, यही है मेरा कसूर।

मैं पन्ना जोगलेकर को जितने करीब से देखता, उतना ही हैरान रह जाता। बाहर किसी आदमी के बारे में जो कुछ सुना जाता है, करीब जाने पर कुछ और ही देखने को मिलता है। पन्ना देवी का सामीप्य न मिलने पर शायद मैं यह बात न जान पाता। यह भी मेरे लिए एक नया तजुर्बा था।

लेकिन मेरा यह तजुर्बा इस तरह चूर-चूर हो जाएगा, [illegible] यही भला क्या मैं जानता था?

खैर, ये सब बातें बाद में बताऊँगा।

पन्ना जोगलेकर, वही पन्ना जोगलेकर !

आज उसी पन्ना जोगलेकर का फोन आने पर अतीत की वे सभी बातें एक-एक कर याद आने लगीं।

मुझे याद है कि उसके बाद एक दिन आर्यनायकम् साहब मुझसे पूछ बैठे—कहिए, कैसी लगी आपको यह हीरोइन ?

मैंने कहा—बढ़िया, बहुत बढ़िया। मुझे आशा न थी कि इतनी बढ़िया हीरोइन मिल सकेगी।

—यह कैसे ?

मैंने जो कुछ देखा था, सभी कुछ विस्तार-पूर्वक बता डाला।

लेकिन आर्यनायकम् साहब ने कहा—नहीं भाई, आप इन अभिनेत्रियों को समझ नहीं पायेंगे। इसीलिए तो उनका नाम है अभिनेत्री। पन्ना जोगलेकर ने आपको बुद्धू बना दिया है। आखिरकार आप भी उसके भुलावे में आ गये। और मजा यह कि आपके बारे में मशहूर है कि आप कितनी ही तरह के चरित्रों को लेकर माथापच्ची किया करते हैं।

मैंने आर्यनायकम् साहब की बातों का प्रतिकार करते हुए कहा—अभिनेत्रियों को दोष देने से क्या फायदा साहब ? आप ही लोग भला क्या कम हैं ? आप-सरीखे लोगों को काबू में रखने के लिए वैसी ही अभिनेत्री की जरूरत है। नहीं तो फिर आप लोगों को सबक कैसे मिलेगा ?

आर्यनायकम् साहब मेरी बातें सुनकर हँसने लगे।

उसके बाद हँसते-हँसते ही वे कहने लगे—देखिए, आपको तो इन अभिनेत्रियों के साथ घर बसाना है नहीं। इसीलिए आप उनकी तारीफों के पुल बाँधे जा रहे हैं। जानते हैं, पाँच साल पहले मैंने पन्ना जोगलेकर को लेकर एक पिक्चर बनाई थी। आपको मैं क्या बताऊँ विमल बाबू, पूरे दो लाख रुपयों का गच्चा लग गया।

मैंने पूछा—यह कैसे ?

आर्यनायकम् साहब ने कहा—रोज ही शूटिंग बन्द हो जाती। सुबह से शूटिंग शुरू करता और घण्टे-भर में ही पन्ना देवी नाराज होकर अचानक चली जाती। मुझे बताये बगैर ही···।

—क्यों ? आखिर क्यों ?

आर्यनायकम् साहब बोले—इस 'क्यों' का क्या जवाब दूँ ? पन्ना देवी को बस कोई बहाना चाहिए। उसका नियम था कि रोज सुबह उसके लिए एक गिलास नींबू का शर्बत तैयार रखना होगा। सो उसे रोज शर्बत दिया जाता था। लेकिन उस दिन सुना कि शर्बत में शक्कर कुछ कम हो गई थी। बस इसी बात पर देवी जी का पारा गरम हो गया। शूटिंग छोड़कर बस वह चल पड़ी, और शूटिंग बन्द होने का मतलब तो आप

जानते ही होंगे।

सो नीबू के शर्बत की बात छोड़ दीजिए। पन्ना जोगलेकर रोज कोई-न-कोई नुक्स निकालती ही। नुक्स न होने पर भी पन्ना देवी ढूंढ़-ढूंढ़ कर नुक्स निकालती। बड़ी गाड़ी के बजाय अगर कोई छोटी गाड़ी पन्ना देवी को लाने के लिए भेजी जाती, तो पन्ना जोगलेकर स्टूडियो आने के लिए इन्कार कर देती। पन्ना देवी को लेकर शूटिंग करना भारी मुसीबत का काम था। एक दिन शूटिंग बन्द होने का मतलब होता है बीस हजार रुपयों का नुकसान। नौ-दस बार इस तरह शूटिंग बन्द होने के कारण पूरे दो लाख रुपये का नुकसान हो गया।

मैंने पूछा—तो फिर दोबारा आपने ऐसी हीरोइन क्यों ली है ?

आर्यनायकम् साहब बोले—आपने उसे पसन्द जो किया है।

मैंने कहा—लेकिन मैं तो यह नहीं जानता था कि उसे लेने पर आपको इतना नुकसान उठाना पड़ेगा।

आर्यनायकम् साहब बोले—खैर, कोई बात नहीं। उसके साथ तीन लाख रुपयों का कंट्रैक्ट है। यही मानकर तसल्ली कर लूंगा कि कंट्रैक्ट पांच लाख रुपयों का किया गया है।

ये सारी बातें मुझे बड़ी अजीब-सी लगीं। अभिनेत्री के मुंह से कुछ सुना और प्रोड्यूसर के मुंह से कुछ और ही। शर्बत में अगर शक्कर कम हो भी गई हो, तो ऐसा कौन-सा आसमान टूट पड़ा था ? थोड़ी-सी शक्कर और मांग लेना ही काफी था। और छोटी गाड़ी ? क्या छोटी गाड़ी एक आदमी के बैठने के लिए पर्याप्त नहीं होती ? इस छोटी-सी बात के लिए किसी का बीस हजार रुपये का नुकसान कर देना कहां तक उचित है ?

और फिर पन्ना देवी के पास बैठे रहने पर तो ऐसा आभास तक नहीं मिलता। वह इतनी सरल और सीधी-सादी लगती है कि उसके बारे में ये सब बातें कल्पना के परे लगती हैं।

मेरी कहानी की नायिका के चरित्र को लेकर डिस्कशन करते-करते एक दिन एक विवाद उठ खड़ा हुआ।

कहानी में एक जगह कुछ इस तरह का दृश्य था। नायिका अपने इकलौते बेटे को गोद में लेकर अपने पति के घर से बड़ी ही खामोशी के साथ चुपचाप इस तरह भाग रही है कि किसी को इसकी भनक तक न हो, न तो उसके पति को और न ही घर के नौकर-नौकरानियों को। पतिदेव एक बहुत बड़े आदमी हैं। लेकिन उनके साथ नायिका का विवाह-विच्छेद हो चुका है। नायिका बड़ी ही गरीबी में दिन गुजार रही है। फटी-पुरानी साड़ी उसने पहन रखी है और उसकी आंखों से झार-झार आंसू बह रहे हैं। पति के साथ विवाह-विच्छेद होने के बाद घर छोड़ देने पर भी वह अपने इकलौते बेटे को भूल नहीं पा रही है। सबों की नजरें बचाकर अपने बेटे को बिछौने से उठाकर चुरा लाने के इरादे से वह अपने पति के घर में घुसती है। जैसे ही वह अपने बच्चे को गोद में उठाकर बाहर निकलना चाहती है, ठीक उसी वक्त उसके पति की नींद टूट जाती है।

और साथ-ही-साथ बत्ती जलाते ही वह अपनी तलाकशुदा पत्नी को चोरी करते हुए रंगे हाथ पकड़ लेता है।

करीब-करीब इसी तरह का था वह दृश्य।

पन्ना जोगलेकर ने पूछा—क्या वह बच्चा मेरा इकलौता बेटा है ?

मैंने कहा—हाँ। इसीलिए तो उसे अपने बेटे के प्रति इतनी ममता है। बेटे को न देख पाने की यन्त्रणा से उसकी छाती फटी जाती है।···आप जब अपने बेटे को चुराकर भाग जाने वाली हैं, ठीक उसी समय आपके पति की नींद टूट जायेगी। आपको देखते ही आपका पति आपको दबोच लेगा और आप भाग नहीं सकेंगी। आप अपने बेटे को छाती से चिपकाये बुक्का फाड़कर रो पड़ेंगी। यह दृश्य इतना ही। यहीं मिक्स होगा।

पन्ना देवी ने ध्यान देकर मेरी बातें सुनीं। उसके बाद मानो मन-ही-मन उसने पूरे दृश्य को आत्मसात् कर डाला। फिर उसने कहा—ठीक है।

सुबह बस उतनी ही बातें हुईं। दोपहर के वक्त शूटिंग थी। सारे लोग ठीक समय पर हाजिर हो गये। पन्ना देवी भी मेकअप करके फ्लोर पर चली आई। उस समय उसे पहचाना ही नहीं जा पा रहा था। एक बड़े आदमी के घर का सेट तैयार किया गया था। दामी फर्नीचर थे और दामी थे पलंग और बिछौने-मसहरी। पतिदेव गहरी नींद में सोये हुए थे। उनकी बगल में ही एक तीन साल का लड़का सुला दिया गया था। लड़का भी गहरी नींद में था। लड़के की असल माँ ने लड़के को पति का अभिनय कर रहे एक्टर के बगल में सुला दिया था।

मैंने देखा कि लड़के को लिटाते ही नींद आ गई थी।

यह देखकर मैं हैरत में पड़ गया था। लड़के ने क्या इस छोटी-सी उम्र में ही अभिनय करना सीख लिया ?

मैंने प्रोडक्शन-मैनेजर मिस्टर सुब्रह्मण्यम् से कहा—वाह, आपने तो बड़ा चमत्कारी लड़का ढूँढ़ निकाला है साहब ! यह तो तीन साल की उम्र में ही पक्का अभिनेता बन गया है। लेटते ही सो गया है।

मिस्टर सुब्रह्मण्यम् ने कहा—जी नहीं, दरअसल इस बच्चे को अफीम खिला दी गई है।

—अफीम ? इस छोटे-से बच्चे को अफीम खिला दी गई है ? क्या इससे इसकी तन्दुरुस्ती खराब नहीं होगी ?

मिस्टर सुब्रह्मण्यम् ने कहा—सो तन्दुरुस्ती खराब होगी तो होगी। आखिर इसकी माँ को नगद पचास रुपये भी तो मिलेंगे। पचास रुपये कम होते हैं क्या ?

मैंने उस बच्चे की असल माँ की तरफ देखा। एक मैली-कुचैली साड़ी उसने पहन रखी थी। बदन पर ब्लाउज तक नहीं था। वह निर्निमेष दृष्टि से अपने बच्चे को देख रही थी। वह शायद सोच रही थी कि उसका लड़का ठीक-ठीक अभिनय कर पायेगा या नहीं। वह मन-ही-मन शायद डर भी रही थी। कहीं वह लड़का बीच ही में रो पड़ा तो ?

तो फिर उसके पचास रुपयों का नुकसान हो जायेगा। पचास रुपये! पचास रुपये पाने पर वह आगामी चार-पाँच दिनों के लिए अपना और अपने बच्चे का पेट भर सकती थी।

हठात् आर्यनायकम् साहब की आवाज गूँज उठी—टेक, साइलेंट्स ऑन···।

उसके बाद वे जोर से बोल उठे—*स्टार्ट साउण्ड*···।

फ्लोर पर चारों तरफ बहुतेरे लोग थे। अब तक सभी बातें कर रहे थे, हठात् सभी चुप हो गये। हजार-हजार पावरों की तेज रोशनी फ्लश के ऊपर केन्द्रित हो गई, जहाँ फिल्म का नायक अपने बेटे के साथ नायलोन की मसहरी के भीतर सोया था।

बगल का दरवाजा खोल कर पन्ना जोगलेकर आहिस्ता-आहिस्ता दबे पाँव भीतर घुसी। चेहरे पर आतंक का भाव था। क्या ही अपूर्व अभिनय था! मैं इतने दिनों से पन्ना देवी के साथ मिलता-जुलता रहा था, फिर भी उस क्षण मैं उसे पहचान नहीं पाया। ऐसा लगा कि मानो मेरी कहानी की नायिका के चरित्र के साथ पन्ना जोगलेकर ने अपने-आपको एकाकार कर लिया था। उसने एक मोटी-सी मैली साड़ी पहन रखी थी। जिस पति के साथ उसका मानसिक और शारीरिक विच्छेद हो चुका था, उसी के घर में; अपने ही एक समय के शयन-कक्ष में वह अपने बेटे के आकर्षण की डोर में बँधी चली आई थी। इस समय मन की जो भावनाएँ चेहरे पर उभरनी चाहिए, ठीक वैसे ही हाव-भाव पन्ना देवी के चेहरे पर दिखाई पड़ रहे थे। पन्ना देवी का अभिनय देखकर मुझे ऐसा लग रहा था कि उसने मेरी कहानी में वर्णित दृश्य को हू-ब-हू प्रस्तुत कर दिखाया था। पन्ना देवी तब तक दबे पाँव मसहरी के पास तक आ पहुँची थी। उसके बाद उसने सावधानी से चारों तरफ देखा। उसने सजग होकर जाँच कर ली कि कहीं घर में कोई जाग तो नहीं रहा है। उसकी मौजूदगी का किसी को आभास तो नहीं मिल गया है!!

किन्तु नहीं, सभी कुछ ठीक-ठाक ही था। किसी को कानों-कान खबर तक नहीं हुई थी कि इसी घर की एक समय की मालकिन इतने दिनों के बाद आधी रात के वक्त इस घर में लुक-छिपकर चली आई है। चली आई है एक निश्चित इरादा लेकर।

पन्ना देवी की गतिविधियों का पीछा करता हुआ कैमरा भी आगे बढ़ रहा था। नायिका के प्रत्येक मूवमेंट और पदक्षेप को कैमरा अपने सीने पर अंकित करता जा रहा था।

यह शॉट था एक साइलेंट शॉट। कहीं कोई आवाज नहीं, कोई शोर-गुल नहीं। मैंने आर्यनायकम् साहब की तरफ देखा। वे बड़े परेशान और अशान्त दिखाई पड़ रहे थे। अपनी परेशानी को मानो वे किसी तरह छिपाकर रखने की कोशिश कर रहे थे। लेकिन उनकी आँखें उनकी परेशानी को उजागर किये दे रही थीं। ऐसा लग रहा था कि फिल्म की नायिका को छोड़कर और किसी भी तरफ उनका ध्यान नहीं था। कारण स्पष्ट था। अगर किसी की भी गफलत के कारण शॉट खराब हो जाता, तो सारी मेहनत बेकार चली जाती। नतीजा यह होता कि हजारों रुपयों का नुकसान हो जाता।

मैं भी कम परेशान न था। मेरी परेशानी का कारण कुछ और ही था। मेरी इच्छा थी कि यह दृश्य बिल्कुल निर्दोष और सही-सही लिया जा सके। मेरी [illegible] के साथ यह दृश्य ठीक-ठाक मिल सके।

कैमरा अब पन्ना देवी के मुँह की तरफ केन्द्रित किया गया। पन्ना देवी उस समय भी भय-मुक्त नहीं हो पाई थी। हम लोग सभी उसके एक-एक मूवमेंट और एक-एक हाव-भाव को तीक्ष्ण दृष्टि से देख रहे थे, इसकी मानो उसे परवाह ही न थी।

मैंने देखा कि पन्ना देवी के हाथ काँप रहे थे। उन्हीं काँपते हुए हाथों से उसने मसहरी को ऊपर उठाया और फिर बच्चे को गोद में उठा लिया। वह बाहर निकलने के लिए बढ़ी। तब तक कोई कुछ भी जान नहीं पाया।

पन्ना देवी अपने लड़के को छाती से चिपटाये कमरे के मध्य भाग तक ही आ पाई थी कि अचानक उसके पति की नींद टूट गई। उन्होंने सारा माजरा देखा—समझा और झट-पट अपनी तलाकशुदा पत्नी का हाथ पकड़ लिया। और साथ-ही-साथ पन्ना देवी बच्चे को जोरों से छाती से भींच कर रो पड़ी।

लेकिन तभी आर्यनायकम् साहब चीख पड़े—कट···।

साथ-ही-साथ सारी बत्तियाँ स्वाभाविक रूप से जल उठीं। पंखे चलने लगे। फिर चारों तरफ शोर-गुल और कोलाहल शुरू हो गया। अभिनेता-अभिनेत्री फिर अपनी असल सत्ता में रूपान्तरित हो गये।

आर्यनायकम् साहब ने बताया कि वह शॉट फिर से लिया जायेगा। उनके अनुसार पन्ना देवी का अभिनय ठीक नहीं हुआ था। लड़के को छाती से लगा कर रोते वक्त चेहरे पर जैसे भाव प्रस्फुटित होने चाहिए थे, वे भाव ठीक आ नहीं पाये थे इसीलिए रिटेक करना पड़ेगा।

फिर बत्तियाँ बुझीं और फ्लड-लाइट्स की तेज रोशनी सेट पर पड़ने लगी। फिर से 'टेक' किया गया। फिर से 'स्टार्ट साउण्ड···'। फिर से पूर्ववत् स्तब्धता छा गई। फिर से अभिनेता मसहरी के भीतर सो गया। पहले की ही भाँति···। पुनः पन्ना देवी दरवाजा खोलकर कमरे के भीतर घुसी। पुनः उसने मसहरी उठाकर लड़के को अपनी गोद में ले लिया। फिर पतिदेव की नींद टूटी और उन्होंने अपनी तलाकशुदा पत्नी का हाथ पकड़ लिया। और फिर पन्ना देवी का पहले की भाँति ही बुक्का फाड़कर रो पड़ना···।

—कट···!

आर्यनायकम् साहब के चेहरे पर फिर परेशानी की छाप उभर आई।

पन्ना जोगलेकर के पास जाकर आर्यनायम् साहब ने कहा—ठीक-ठीक इमोशन आ नहीं पा रहा है। फिर एक बार कोशिश करके देखता हूं।

पन्ना देवी खुद भी समझ रही थी कि अभिनय ठीक नहीं हुआ था। कितनी बड़ी आर्टिस्ट थी वह। इतने सारे लोगों के सामने उसकी व्यर्थता ने उसे बड़ी ही शर्मिन्दगी में डाल दिया था। पन्ना देवी ने कहा—ठीक है, और एक शॉट लेकर देखिए।

फिर से शॉट लेना शुरू हुआ। लेकिन फिर वही कट···। शॉट ठीक नहीं हो पाया।

उसके बाद उसी शॉट को कुल बारह बार लिया गया। लेकिन फिर भी कोई शॉट आर्यनायकम् साहब के मन के लायक नहीं हो पाया। ऐसा वाकया पन्ना देवी के

जीवन में पहले कभी भी नहीं हुआ था। सभी लोग हताश हो गये।

उस समय शाम के छह बज रहे थे। आखिरकार पन्ना देवी ने कहा—आज रहने दीजिए। आज मेरा मूड ही नहीं बन रहा है।

यह कहकर पन्ना देवी ने बच्चे को गोद से उतार कर फर्श पर सुला दिया और वह खुद अपने मेकअप-रूम में घुस गई। सभी सिर पर हाथ रखकर बैठ गये। अब क्या होगा? जब मैडम का मूड ही नहीं बन रहा है, तो फिर बीस हजार रुपये गये पानी में। आज और शूटिंग नहीं होगी। अब कब मैडम का मूड बनेगा और कब मैडम शूटिंग के लिए डेट दे सकेंगी, यह कोई भी कह नहीं सकता था।

जब पन्ना देवी मेकअप-रूम से बाहर निकलीं, तब वह बिल्कुल बदली हुई नजर आ रही थीं। वही दामी साड़ी बदन पर थी और चेहरे पर थी वही रोबीली भंगिमा।

आर्यनायकम् साहब दौड़कर पन्ना जोगलेकर के पास गये। उन्होंने कहा—मैडम, तो फिर अब आपसे कब मुलाकात करूँ?

पन्ना देवी ने गाड़ी में बैठते-बैठते कहा—पन्द्रह दिनों के बाद।

और साथ-ही-साथ पन्ना देवी की गाड़ी धूल उड़ाती हुई स्टूडियो के बाहर चली गई। साथ-ही-साथ आर्यनायकम् साहब के सिर पर मानो गाज-सी गिर पड़ी।

उसके बाद एक-एक कर सभी स्टूडियो से विदा होने लगे। स्टूडियो की भीड़ छँटने लगी। स्टूडियो की बड़ी-बड़ी बत्तियाँ भी एक-एक कर बुझ गईं।

मैं भी तब तक थक चुका था। मैं आर्यनायकम् साहब के नजदीक गया। मैंने पूछा—क्यों साहब, पन्ना जोगलेकर ने क्या कहा?

आर्यनायकम् साहब बोले—वह कह रही थी कि इस छोकड़े को लेकर काम नहीं चलेगा।...उस लड़के को गोद में लेने पर मैडम का मूड ही नहीं बनता।

—तो फिर?

—कोई दूसरा बच्चा ढूँढना पड़ेगा।

मैंने मन-ही-मन में कहा—वाह पन्ना जोगलेकर, तुम्हारा भी जवाब नहीं! अपनी असमर्थता की जिम्मेवारी तुमने एक तीन साल के अबोध बच्चे पर डाल दी। वाह भई, वाह...।

थोड़ी देर बाद मैं स्टूडियो का बगान पार कर बाहर निकलने जा रहा था। बगान के पास आते ही सुब्रह्मण्यम् के साथ मुलाकात हुई। मैंने पूछा—अब आप क्या करेंगे साहब?

मिस्टर सुब्रह्मण्यम् ने कहा—करूँगा और क्या? फिर किसी दूसरे बच्चे को ढूँढना पड़ेगा।

मैंने पूछा—और उस बच्चे की माँ को जो आपने पचास रुपये दिये हैं, वे तो बेकार ही गये न?

मिस्टर सुब्रह्मण्यम् ने कहा—नहीं बिमल दा, वे रुपये बेकार होने का प्रश्न ही कहाँ उठता है? रुपये तो मैंने दिये ही नहीं। जब काम हुआ ही नहीं, तो फिर उसे झूठ-मूठ रुपये देना ही क्यों?

यह कहकर मिस्टर सुब्रह्मण्यम् वहाँ से चल पड़े ।

मैं और दूसरे लोगों के साथ जाने के लिए रुका रहा। हम लोगों की बस तैयार थी, लेकिन सारे लोग आ नहीं पाये थे। इसलिए बस छूटने में देर थी। शाम हो चुकी थी और अँधेरा घना होता जा रहा था। मैं अकेला बगान के बीच ही खड़ा था। अचानक एक तरफ से किसी बच्चे के जोर से रोने की आवाज सुनाई पड़ी। मैंने सोचा कि स्टूडियो के किसी माली का बच्चा रो रहा होगा। लेकिन फिर भी कौतूहल-वश मैं उस तरफ बढ़ गया, जहाँ से रोने की आवाज आ रही थी। वहाँ जाकर मैंने जो कुछ देखा, वह मेरे हैरत में पड़ जाने के लिए काफी था। मैंने देखा कि वही बच्चा रो रहा था। वही, जिसे पन्ना जोगलेकर के लड़के की भूमिका के लिए सेट पर लाया गया था। वह अब भी गला फाड़कर रो रहा था। और उसकी माँ उसे लगातार तमाचे मारे जा रही थी।

मैंने जाते ही बच्चे की माँ को रोका। मैंने पूछा—बच्चे को मार क्यों रही हो? क्या कसूर किया है उसने?

उस बच्चे की माँ ने कहा—देखिए न बाबू जी, तीन साल की उम्र हो गई है इस लड़के की; लेकिन यह किसी भी काम का नहीं। सिर्फ खाना जानता है। मैं पूछती हूँ कि जब यह कोई काम ही नहीं कर सकता, तो फिर इसे भला इतनी भूख ही क्यों लगती है! काम का न काज का, ढाई सेर अनाज का···।

यह कहकर वह फिर अपने बच्चे को तमाचे जड़ने जा रही थी, लेकिन मैंने उस औरत का हाथ पकड़कर उसे रोक लिया। मैंने कहा—तीन साल का लड़का है, भूख तो लगेगी ही। क्या इसीलिए तुम इसे मार डालोगी?

यह कहकर मैंने जेब में हाथ डाला और दस रुपये का एक नोट निकालकर उस औरत के हाथ में रख दिया। वह नोट उसे देकर मैं वहाँ और रुका नहीं, सीधा बस के पास चला आया। बस भी छूटने ही वाली थी, सिर्फ मेरा ही इन्तजार किया जा रहा था। मैं बस में बैठकर अपने होटल तक आ गया। मुझे ऐसा लगा कि मानो मैं होटल में नहीं लौटा था; बल्कि अपने-आप को छिपा रखने के स्थान में चला आया था। पन्ना जोगलेकर के समस्त अपराध का पाप मानो मेरे ऊपर ही बरस कर मुझे अपावन-अशुद्ध बना गया था।

उसी पन्ना जोगलेकर के साथ फिर इतने वर्षों के बाद मेरी मुलाकात होगी, यह मैंने सपने में भी नहीं सोचा था। तो क्या पन्ना जोगलेकर तक भी यह खबर पहुँच चुकी थी कि मैं 'फिल्म डेवलोपमेंट बोर्ड' का मेम्बर बनाया गया हूँ!

खैर···, मैं शाम के वक्त पन्ना देवी के दिये गये ठिकाने पर जा पहुँचा। वहाँ जाकर मैंने देखा कि उस मकान के प्रत्येक कमरे में बाई जी की महफिल जमी हुई थी। मैंने एक बुढ़िया को देखकर उससे पूछा— क्या यहाँ बम्बई की पन्ना जोगलेकर नाम की कोई औरत आई है? वह बुढ़िया शुरू में तो कुछ बता नहीं सकी, लेकिन एक दूसरी औरत से पूछकर उसने मुझसे कहा—आप एकतल्ले के तीन नम्बर के कमरे में चले जाइए।

मैं एकतल्ले के तीन नम्बर के कमरे के सामने जा पहुँचा। कमरे में एक कम पावर का बल्ब जल रहा था। दरवाजा खटखटाने पर भीतर से किसी औरत की आवाज सुनाई पड़ी—कौन है?···उसके बाद थोड़ी ही देर में दरवाजा खोलकर एक औरत मेरे सामने खड़ी हो गई।

मैं उसे देखते ही चौंक पड़ा। क्या यही है उन दिनों की अद्वितीय रूपसी पन्ना जोगलेकर? मुझे ऐसा लगा मानो मैं पन्ना जोगलेकर को नहीं, उसके कंकाल को देख रहा था।

पन्ना जोगलेकर ने कहा—आपको मैं किस तरह धन्यवाद दूँ, समझ मे नही आ रहा है। आप इतनी तकलीफ उठाकर यहाँ आये हैं···।

—आप इस मकान मे किसके पास रुकी हैं?

पन्ना जोगलेकर ने कहा—मेरी एक मौसेरी बहन यहाँ रहती है। वह महफिल मे गाने गाया करती है।

मैंने पूछा—क्या आप इन दिनो भी फिल्मो मे अभिनय कर रही है?

उसने कहा—मैंने इधर बहुत दिनो से कोई रोल नही किया है। जो रोल मुझे ऑफर किये गये, वे मुझे पसन्द ही नही आये। आप अपनी कहानी पर बन रही किसी फिल्म मे मुझे हीरोइन का रोल दिलवाइए न ···। आपकी कहानी पर बनने वाली पिक्चर तो सुपरहिट होती है।

मैं समझ ही नही पाया कि मैं पन्ना देवी को क्या जवाब दूँ! उस पुराने जमाने की चमकती-दमकती पन्ना देवी तो वस्तुतः समाप्त हो चुकी थी। वह रूप, वह यौवन और वह मन को तरंगित कर डालने वाला हाव-भाव—कुछ भी तो अब नही बचा था। उसके बावजूद पन्ना जोगलेकर हीरोइन का रोल करने का सपना देख रही थी। ताज्जुब की बात···!

मैंने पन्ना जोगलेकर से कहा—देखिए, मैं 'फिल्म डेवलोपमेंट बोर्ड' का मेम्बर हूँ। सरकार की तरफ से व्यवस्था की गई है कि जो कलाकार तगहाल हैं, उन्हें आर्थिक सहायता दी जायेगी। पन्ना देवी, आप एक दरख्वास्त लिखिए। मैं कोशिश करके आपको कुछ आर्थिक सहायता दिलवा दूँगा। यही समझ लीजिए कि हर महीने तीन सौ रुपये···।

पन्ना जोगलेकर मेरी बातें सुनकर बुरी तरह चौंक पड़ी। उसने कहा—नही-नही, विमल बाबू। मैं कोई सरकारी मदद नही चाहती। इससे मेरा कैरियर बर्बाद हो जायेगा। अगर हो सके तो आप मुझे किसी फिल्म मे हीरोइन का रोल ही दिलवाइए···।

मैंने कहा—लेकिन इस समय तो मेरी किसी कहानी पर फिल्म नही बन रही है। अधिक-से-अधिक मैं जो कुछ कर सकता हूँ, वह यही कि आपको कुछ सरकारी मदद दिलवा दूँगा।

मेरी बातें सुनकर पन्ना जोगलेकर निराश हो गई। उसने कहा—ठीक है, विमल बाबू। लेकिन जब भी आपकी किसी कहानी पर फिल्म बने, आप मुझे जरूर याद रखिएगा। मैं आपकी खबर मिलते ही चली आऊँगी। और सरकारी मदद मैं हर्गिज

नहीं लूंगी। सरकारी मदद लेने पर फिर कोई भी प्रोड्यूसर मुझे हीरोइन का रोल ऑफर नहीं करेगा। वैसे बम्बई के ऋषिकेश मुखर्जी ने भी मुझसे वायदा किया है कि वे मुझे अपनी अगली फिल्म में हीरोइन की भूमिका जरूर देंगे।

इसके बाद भला मेरे लिए कुछ कहने को बचा ही क्या था ? मैं पन्ना जोगलेकर को नमस्कार कर उस मकान से बाहर चला आया।

रास्ते में चलते-चलते मैं सोचने लगा—यही है 'शो-मैन-शिप' और यही है 'शो-मैन-शिप' की ट्रैजेडी। जो लोग 'शो-मैन-शिप' में विश्वास रखते हैं, दरअसल वे मूर्खों के स्वर्ग में निवास करते हैं। और इसीलिए मैं नवोदित लेखकों से कहा करता हूँ—महान् लेखक बनने के लिए तुम्हें अपने-आप को छिपाकर रखना होगा, नेपथ्य में रखना होगा। तुम्हारा 'मैं' तुम्हारी कला-सत्ता को निगल न जाये, यह ध्यान रखना होगा। अपनी कला के समक्ष तुम्हें अपने-आप को अदृश्य कर देना होगा।

पन्ना जोगलेकर के जीवन से मैंने तो यही शिक्षा ग्रहण करने की कोशिश की है।

किस्सा एक दावत का

सचमुच यह एक दावत का ही किस्सा है। एक दावत—अजीबोगरीब और बेमिसाल···!

आज है इतवार का दिन। शुक्रवार को ही इन्द्रनाथ को आज की दावत मे शरीक होने का निमन्त्रण मिला था। शाम होते ही इन्द्रनाथ दावत मे शामिल होने के लिए निकल पड़ा था। इस समय रात के साढे नौ बजने वाले हैं। फिर भी अभी तक इन्द्रनाथ के वापस लौटने का आभास तक नही मिल पाया है।

कुमुद ने ढीली-सी साड़ी पहन रखी है। दीवार से सिर टिकाये वह लापरवाही से पैर पसारे बैठी हुई है। इन्द्रनाथ की एक फटी कमीज को सीने के लिए बैठी है। दरअसल सिलाई लेकर बैठना तो उसके लिए एक बहाना है। कुमुद सिलाई करते-करते ही हँस पडी। जिस आदमी को चार कमीजो मे ही साल गुजारना होता है, उसकी कमीज सिलाई किये बिना उपाय भी क्या है? कुमुद ने हठात् पुकारते हुए पूछा—बबलू, नीद आ गई क्या?

कुमुद ने मुंह उठाकर बबलू की तरफ देखा। बबलू बिछौने पर औंधा लेटा किताब पढ़ रहा था।

बबलू ने मानो कुछ परेशान होते हुए माँ से पूछा—दावत से लौटने मे पिताजी को इतनी देर क्यों हो रही है माँ?

जमाना दूसरे विश्वयुद्ध के बाद का···। कलकत्ते की एक अनजानी गली के शेष प्रान्त मे अवस्थित एक कमरे के घर मे ही तीन प्राणियों का यह ससार मंथर गति से चलता जा रहा था। हरेक दिन भगवान भास्कर इस बस्ती के उस ओर की तीनतल्ला अट्टालिका के पीछे से उदित होते। और उसके बाद समय का पहिया घूमने लगता। इन्द्रनाथ के दफ्तर जाने के पहले की व्यस्तता, कुमुद के द्वारा जल्दबाजी मे भात के ऊपर गर्म झोल डाल देना और उसके बाद हाथ धोकर झटपट पति के लिए पान तैयार कर देना···। उसके बाद बबलू को नहलाना-धुलाना और खिलाना-पिलाना···। तरह-तरह के काम···। इन कामों मे नियमबद्धता जितनी थी, उतनी ही थी एकरूपता और ऊब। सुबह से

तक अक्लान्त परिश्रम के बीच अगर कुमुद को कुछ पल सोचने को मिल पाते, तभी यह ऊब टूटती। सच तो यह था कि कुमुद इन सबों की आदी हो चुकी थी। ठीक चार बजे तड़के उसकी नींद टूट जाया करती। उसकी दिनचर्या की नियमबद्धता के आगे घड़ी की सूइयाँ भी मानो हार मानतीं। जब कुमुद खाना पकाने का काम पूरा कर चुकती, उस समय सूर्योदय होता। सूर्योदय, यानी दुनिया के लोगों के कार्य-कलापों की शुरुआत का वक्त!

इन्द्रनाथ एक प्रेस में नौकरी करता था।

इन्द्रनाथ को आठ बजे प्रेस में हाजिरी देनी होती। चेतला की इस झोपड़पट्टी से प्रेस का रास्ता कम-से-कम सात मील का तो होगा ही। प्रेस तक पैदल जाने में दो घण्टों का वक्त जरूर लगता था, परन्तु सैकिंड क्लास की ट्राम के किराये के छह पैसे बच भी जाते थे। वे छह पैसे भी भला क्या कम होते हैं! ठंडक पड़ने पर छह पैसों में एक प्याली चाय पी जा सकती है। या फिर चार दिनों की बचत में यानी चौबीस पैसों में राशन का एक सेर चावल मिल सकता है। दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान जिनकी आमदनी बढ़ी नहीं, वे लोग फिजूलखर्ची कर भी कैसे सकते हैं!

सो इन्द्रनाथ को भोर छह बजे घर से रवाना होकर आठ बजे प्रेस में हाजिरी देनी पड़ती।

बबलू ने किताब पर से मुँह उठाकर फिर पूछा—पिताजी को लौटने में इतनी देर क्यों हो रही है माँ?

भला कुमुद बबलू के इस सवाल का क्या जवाब देती!

हो सकता है कि इन्द्रनाथ पहली पंगत में भोजन के लिए बैठ नहीं पाया हो। दरअसल बड़ा संकोची आदमी जो है इन्द्रनाथ! बिना बुलाये भी खुद भीड़ में शामिल होकर पंगत में बैठ जाना पड़ता है, यह बात कौन समझाये इन्द्रनाथ को? जिसे कल भोर छह बजे ही झोल-भात खाकर ऑफिस के लिए निकल जाना पड़ेगा, उसे इतनी देर तक शौकीन आदमियों की भाँति अड्डेबाजी करने की भला जरूरत ही क्या है? हो सकता है कि किसी पुराने दोस्त से भेंट हो गई हो! सचमुच इन्द्रनाथ खामख्वाह अड्डेबाजी में वक्त बर्बाद कर रहा होगा। घर में कोई उसके इन्तजार में बेचैन है, यह बात शायद वह भूल ही गया है।

सिलाई करते-करते कुमुद ने बाहर की तरफ नजर डाली। सम्भवत: वह अन्दाज करना चाहती थी कि कितनी रात हो चुकी है!

आज के दिन को—आज के इतवार को एक अलग किस्म का इतवार कहा जा सकता है। इस तरह इतनी रात तक दीवार का सहारा लेकर कुमुद को कभी बैठा नहीं रहना पड़ा।

आज की शाम कितनी निश्चिन्तता के साथ बीती है! खाना बनाने का काम सुबह ही पूरा कर लिया गया। दोनों वक्त का खाना एक ही बार बना लेने में कितनी सहूलियत होती है! इन्द्रनाथ तो दावत में गया है, रात का खाना उसे घर पर खाना है ही नहीं। शुक्रवार की शाम को ही इन्द्रनाथ को उसके पुराने प्रेस-मालिक धरणी बाबू ने

निमन्त्रण दिया था। बीच में था सिर्फ शनिवार का दिन। शनिवार की आधी छुट्टी में इन्द्रनाथ को बहुत-से काम निपटाने पड़े थे। साबुन खरीदकर लाना, जूतों के लिए पॉलिश खरीदकर लाना और उसके बाद······।

उसके बाद का सारा काम कुमुद ने ही किया था। सोडे और साबुन से इन्द्रनाथ की धोती और कमीज को नल के नीचे ले जाकर धोना, भात के माँड़ की कड़प देना, नील देना और फिर कपड़ों को सुखाना···। उसके बाद कपड़ों को तह करके बिछौने के नीचे रख कर छोड़ देना ताकि कपड़ों में अपने-आप इस्तरी हो जाये। ये सभी काम कुमुद को ही पूरे करने पड़े थे।

इन्द्रनाथ इस वक्त घर पर खाना नहीं खायेगा, अतएव कहा जा सकता है कि कुमुद को वैसा काम ही क्या है भला! दूसरे दिनों की तरह नहाने-धोने और बाल सँवारने के लिए समय की कमी होने का प्रश्न ही नहीं था। फिर भी उसने सुबह वाली साड़ी ही पहन रखी थी, जिसमें हल्दी और मिर्च-मसालों के दाग लगे हुए थे। कहा जा सकता है कि कुल ढाई आदमियों की ही तो गृहस्थी थी उनकी; पति-पत्नी और मुन्ना···! फिर भला ऐसी चिन्ता-फिकर की बात ही क्या थी! लेकिन परिवार चलाने के लिए इन्द्रनाथ के नब्बे रुपयों का ही तो भरोसा था। उन्हीं रुपयों में ही तो सब कुछ करना पड़ता! थोड़ी खींच-तान करके हर तरफ के खर्चों को सँभाले बिना गुजारा कहाँ? बबलू को दूध देना ही होगा। बबलू को दूध नहीं दे पाने पर कुमुद के हृदय में हाहाकार मचने लगता। पास के मैदान में जब बबलू अपने साथियों के साथ खेला करता, तब कुमुद चुपचाप उसे खिड़की से देखा करती। दूसरे लड़कों की तुलना में बबलू जल्दी ही खेलते-खेलते थकान का अनुभव करता। बीच-बीच में उसे कुछ देर तक रुककर दम लेना होता और तब वह फिर से खेल में जुट पाता।

और इन्द्रनाथ! कितने वर्षों के बाद उसे किसी दावत में शरीक होने का निमन्त्रण मिला है, इसका हिसाब भला किसके पास है? यदि उसे निमन्त्रण मिला भी होगा, तो दूसरे विश्वयुद्ध के शुरू होने के पहले ही। उन दिनों मामूली हैसियत के गृहस्थ भी शादी के भोज में तीन-चार सौ लोगों को खिलाते ही थे। उन दिनों शर्त लगाकर तीन हाँडी दही, पचास लँगड़े आम और सौ रसगुल्ले खाने का जमाना था। उस जमाने में खुद कुमुद भी कितनी ही बार ऐसी दावतों में खाकर आ चुकी थी।

खुद इन्द्रनाथ की शादी के बाद बहू-भात का आयोजन नहीं हो पाया था। मतलब यह कि सब कुछ हुआ, पर भोज का उत्सव रद्द कर दिया गया था। उसकी कुछ पारिवारिक वजह थी। लेकिन कुमुद के पितृगृह में खिलाने-पिलाने का खासा रिवाज था। बहुत बड़ा परिवार था उन लोगों का। आज इस घर में अन्नप्राशन है, कल उस घर में बहू-भात तो परसों और किसी घर में श्राद्ध का भोज। खुद अपने घर में कुमुद ने कितने ही भोज के आयोजन होते देखे हैं। शादी के हफ्ते भर पहले ही रिश्ते-नाते के लोगों का जमावड़ा शुरू हो जाता। फिर तो यह न पूछिए कि किस तरह दिन बीत जाता और किस तरह बीत जाती रात। रंग-बिरंगी रोशनियाँ, बाजे··· रही हँसी-दिल्लगी और विवाह-मण्डप का धूम-धड़क्का'। अब भी कभी

सोचते कुमुद को ऐसा प्रतीत होता है मानो पूड़ियाँ तलने की तीखी गंध उसकी नाक में समा गई है। शहनाई बज रही है, दूल्हा आ गया है, दान-दहेज की सामग्री सजी हुई है और पास ही हो रहा है कन्यादान···। वधू के पिता जी रेशमी धोती पहने खाली बदन मन्त्र पढ़ रहे हैं। उधर छत पर केले के पत्तों पर बैंगन-भाजा परोस दिया गया है। लोग अपनी-अपनी जगह पर बैठ गए हैं। खाँची भर-भर कर गरम-गरम पूड़ियाँ लाई जा रही हैं और प्रत्येक के सामने केले के पत्ते पर चार-चार पूड़ियाँ परोस दी जा रही हैं। कुमुद उस समय छोटी थी। इसलिए उन दिनों वह लड़कों के साथ ही बैठ जाया करती। शाक-भाजा, बैंगन-भाजा तथा एक और किस्म की सब्जी। बन्द गोभी की या फिर कुम्हड़े की···। उसके बाद परोसा जाता मछली का कलिया। फिर झींगा मच्छी की मलाई-करी···। उसके बाद बारी-बारी से दो प्रकार की चटनी, पापड़-भाजा, दही, संदेश, गुलाबजामुन और दरबेश···। सबसे आखिर में दिया जाता पान और दो-चार लाल या गुलाबी कागजों पर छपे आशीर्वाद के पद्य···। इन्हें कहा जाता रूमाल-पद्य···।

सोचते-सोचते कुमुद स्मृतियों को पीछे ढकेलती हुई पन्द्रह वर्ष पहले के जमाने में जा पहुँची।

आत्मीय-स्वजनों से भरा हुआ घर, हँसी-ठट्ठे, फूलों की मालाएँ, दूल्हा-दुल्हन और सर्वोपरि पूड़ियाँ तलने की सुगंध···। चाहे वह अपना घर हो, या फिर दूसरे का। फिर भी वह परिवेश और वह स्मृति कुमुद के मन में उदासी भर डालते। आज रात इन्द्रनाथ की फटी कमीज को सीते हुए हठात् कुमुद को क्या हो गया ! वह सोचने लगी कि आखिर इन्द्रनाथ को लौटने में इतनी देर क्यों हो रही है ? सम्भवतः बहुत दिनों के बाद आज इन्द्रनाथ ने भरपेट खाया होगा। हो सकता है वह बैठा-बैठा पान चबा रहा हो। उसके बाद वह शायद ट्राम-रास्ते पर पैदल ही चला आ रहा होगा। झूठ-मूठ क्यों वह ट्राम के किराये के पैसे बर्बाद करेगा। बबलू अब तक जगा हुआ है। वह भी शायद अपने पिता जी के मुँह से दावत के बारे में विस्तार-पूर्वक सुनने के लिए बेचैन है।

इन्द्रनाथ के रिश्तेदारों के नाम पर तीनों कुल में कोई भी नहीं। इसलिए साधारणतः कुमुद को कोई निमन्त्रण नहीं मिलता। सो यह एक तरह से अच्छा ही है। किसी दावत में पहनकर जाने लायक एक भी बढ़िया साड़ी या जेवर कुमुद के पास कहाँ है ? इसके लिए इन्द्रनाथ को भी क्या दोष दिया जाये ? विश्वयुद्ध के बाद कितने ही लोगों की तनख्वाह में बढ़ोत्तरी हुई, कितने ही लोगों की माली हालत में जमीन-आसमान का अन्तर आ गया। लेकिन बेचारा इन्द्रनाथ ? वह जैसा पहले था, अब भी वैसा ही है। नब्बे रुपयों की तनख्वाह है। नब्बे रुपयों का हिसाब करते-करते कुमुद को डर लगने लगता है। इतनी बड़ी लड़ाई आई, परन्तु मानो वह इन्द्रनाथ को छुए बगैर ही चली गई। इन्द्रनाथ मानो इस युद्ध में जातिच्युत ही रह गया। फिर भी इन्द्रनाथ खा सकता है। वह बेहतरीन खाने का शौकीन है। मीठी चटनी मिल जाये, तो वह थाली चाट-चाटकर खाता है। वही इन्द्रनाथ इतने वर्षों के बाद शादी की दावत में खाने के लिए गया है। इसीलिए सुबह से ही इन्द्रनाथ की व्यस्तता का पार न था। रात में अधिक देर तक जगना पड़ सकता है, इसलिए दोपहर में वह थोड़ी देर तक सो चुका

है। बबलू को भी साथ ले जाना अच्छा ही होता। इतने दिनों से उसने भी किसी भोज में हिस्सा नहीं लिया। आज वह भी उम्दा पकवान खा-पी आता। लेकिन उसे अकेले को निमन्त्रित किया गया था और साथ में लड़के को ले जाने से भला धरणी बाबू क्या सोचते ?

सो धरणी बाबू आदमी खूब ही बढ़िया हैं। धरणी बाबू की प्रेस में ही इन्द्रनाथ ने अपनी पहली नौकरी शुरू की थी। उन्होंने ही इन्द्रनाथ को आदमी बनाया है। उसके बाद इन्द्रनाथ एक दूसरी प्रेस—'एरियन प्रेस' में नौकरी करने लगा। इस प्रेस में उसे जो नब्बे रुपयों की तनख्वाह मिल रही है, वह धरणी बाबू के द्वारा सिखाई गई विद्या के बदौलत ही मिल रही है। धरणी बाबू की प्रेस में सात महीनों तक बगैर तनख्वाह लिये काम कर इन्द्रनाथ ने प्रेस का काम सीखा था। उसके बाद उसे पन्द्रह रुपयों की तनख्वाह मिलने लगी थी।

उन्हीं धरणी बाबू के साथ हाजरा रोड के मोड़ पर उसकी मुलाकात अकस्मात् ही हो गई थी।

धरणी बाबू अपनी गाड़ी में आ रहे थे और इन्द्रनाथ रास्ता पार कर रहा था।

धरणी बाबू की आवाज सुनकर हठात् इन्द्रनाथ रुक गया। तब तक गाड़ी दस हाथ दूर जाकर रुक चुकी थी। इन्द्रनाथ दौड़कर गाड़ी के पास गया। इन्द्रनाथ को देखते ही धरणी बाबू ने कहा था—आज मेरे बड़े लड़के पुलिन की शादी है। रविवार को बहू-भात का आयोजन किया गया है। जरूर आना इन्द्रनाथ, भूलना नहीं···।

उसके बाद···?

कैसे हो, इन दिनों किस प्रेस में काम कर रहे हो ! इत्यादि-इत्यादि···।

धरणी बाबू गाड़ी में बैठे हुए थे और इन्द्रनाथ खड़ा था गाड़ी के दरवाजे के पास।

हठात् आवाज करती हुई और धुआं उड़ाती हुई धरणी बाबू की गाड़ी चली गई। लेकिन उसके बाद भी इन्द्रनाथ जहाँ को तहाँ खड़ा रहा। क्या हो गया उसे ? उसने सपने में भी नहीं सोचा था कि कोई उसे शादी की दावत में शामिल होने के लिए न्यौता भी दे सकता है। बहुत दिनों के बाद उसे बढ़िया पकवान और मांस-मछली खाने का मौका मिला है।

सो यही है दावत मिलने का इतिहास !

ऐसी घटना साधारणतः दुनिया में नहीं होती। या फिर सम्भवतः होती है कभी-कभी ही। शुक्रवार के दिन से ही इन्द्रनाथ रविवार के दिन होने वाले भोज में शामिल होने की तैयारियों में जुट गया। एक साफ-सुथरी धोती होनी चाहिए, एक कमीज और जूतों के लिए पॉलिश। धरणी बाबू की प्रेस में वह प्रूफ-रीडर रह चुका है तो क्या हुआ ? उस जमाने की प्रूफ-रीडर की पन्द्रह रुपयों की तनख्वाह की कोई छाप तो इन्द्रनाथ के माथे पर लगी हुई है नहीं। दूसरे पाँच भले मानुषों के बीच वह भी एकाकार हो जायेगा। जब वह भोजन करने के लिए सबों के साथ बैठेगा, तो उसकी पत्तल में दूसरों की तुलना में कम सन्देश तो परोसे जायेंगे नहीं।

कुमुद ने कमीज की सिलाई करते-करते फिर एक बार खिड़की के बाहर देखकर रात का अन्दाज लेने की कोशिश की।

लेकिन आज घर लौटने में बबलू के पिताजी को इतनी देर क्यों हो रही है! बबलू उसी तरह किताब पढ़ने में लीन है। अपने पिता की प्रतीक्षा में वह भी इतनी रात तक जगा हुआ है। बड़े रास्ते के होटल का रेडियो भी बन्द हो गया। काफी रात हो चुकी है।

हठात् दरवाजे का कड़ा बज उठा—खट् खटाखट् खट्...।

—बबलू...।

हां, यह इन्द्रनाथ की ही आवाज थी। इन्द्रनाथ की आवाज कुछ भारी-भारी-सी थी। वैसी ही, जैसे मुंह में पान दबाकर कोई किसी को पुकारता हो।

बबलू झटपट बिछौने पर उठ बैठा।

कुमुद ने कमीज एक ओर रख दी और शीघ्र ही जाकर दरवाजा खोल दिया।

इन्द्रनाथ कमरे के भीतर चला आया।

कुमुद ने जैसा सोचा था, वैसा ही देखा। इन्द्रनाथ का मुंह पान से भरा हुआ था। काले होंठों पर पान की लालिमा पसरी हुई थी। इन्द्रनाथ पान चबा रहा था। वह हिल-डुल भी नहीं पा रहा था। पेट-भर खाने के बाद जैसी हालत होती है, ठीक वैसी ही हालत थी इन्द्रनाथ की। इन्द्रनाथ बड़ा ही थका हुआ लग रहा था। भर पेट खाने की थकान...!

बिछौने के ऊपर बैठकर इन्द्रनाथ ने पूछा—क्या तुम लोग अभी तक सोये नहीं?

उसके बाद बबलू की तरफ देखते हुए इन्द्रनाथ ने कहा—तुम अब तक जग रहे हो राजा बेटे!

यह कहकर वह बबलू का माथा सहलाने लगा।

—आपकी कमीज ही की सिलाई कर रही थी।—कमीज को उठाते-उठाते कुमुद बोली।

कुछ क्षणों की चुप्पी के बाद कुमुद ने पूछा—बाबू लोगों ने किस तरह खिलाया-पिलाया?

इन्द्रनाथ आराम से जम्हाइयाँ ले रहा था। उसने कहा—बढ़िया ही खिलाया बाबू साहब ने। सारी चीजें बहुत बढ़िया बनी थीं।

बबलू ने पूछा—पिताजी, क्या आप 'रूमाल-पद्य' लेकर नहीं आये?

—'रूमाल-पद्य'? आजकल क्या रूमाल-पद्य का रिवाज रह गया है पगले?—इन्द्रनाथ ने प्यार-मनुहार के साथ बबलू से कहा।

कुमुद तब तक इन्द्रनाथ के पास बैठ चुकी थी। उसने पूछा—घर ढूंढने में मुश्किल तो नहीं हुई? नयी कोठी में ही तो शादी हुई है न!

—नहीं-नहीं, मुश्किल क्यों होती? शादी का घर ढूंढने में कभी मुश्किल होती है भला? आधा मील दूर से ही पूड़ियों की गन्ध नाक में समाने लगती है।

—क्या पूड़ियाँ गर्म थीं?—हठात् कुमुद पूछ बैठी।

इन्द्रनाथ ने जवाब दिया - शुरू में जो चार पूड़ियाँ दी गई थीं, ठण्डी थीं। उसके बाद गर्म पूड़ियाँ परोसी गईं। दो-दो, चार-चार गर्म पूड़ियाँ सबों को परोसी गईं। उसके बाद आया पुलाव। महीन बाँसतुलसी चावलों से बना हुआ पुलाव···। घी से तर-ब-तर पुलाव···।

सिर्फ पूड़ियाँ ही नहीं बनी थीं। पुलाव भी बना था। सो धरणी बाबू बड़े शौकीन और रईस आदमी ठहरे। पुलाव तो वे बनाते ही। और फिर शादी थी बड़े लड़के की। पुलाव अगर नहीं बनता, तो यही बात अस्वाभाविक कही जाती।

इन्द्रनाथ ने कुछ रुककर कुमुद से पूछा—तुम लोगों ने खा लिया है तो···?

कुमुद ने जवाब दिया—कभी के खा चुके हैं हम। बर्तन वगैरह माँजकर कब से हम आपके इन्तजार में बैठे हुए हैं।

—तुम खामख्वाह क्यों जगी हुई थी? मुझे तो वहाँ खाना था नहीं। कल तो तुम्हें फिर सुबह चार बजे तड़के उठना होगा।

कुमुद ने इस बात का कोई जवाब नहीं दिया। वह चुपचाप बैठी रही।

इन्द्रनाथ ने कहा—एक गिलास ठण्डा पानी तो पिलाओ। पुलाव में बहुत घी डाल दिया गया था। बार-बार प्यास लग रही है।

कुमुद ने इन्द्रनाथ को पानी का गिलास लाकर दिया।

उसके बाद उसने पूछा—उन लोगों ने क्या-क्या खिलाया?

—जिस तरह और दूसरे लोग खिलाते हैं, बैंगन-भाजा से शुरू कर दही-रबड़ी तक···।—इन्द्रनाथ ने जवाब दिया।

—शुरू से बताइए न, एकदम शुरू से। केले के पत्ते बिछाने से शुरू कर···!

इन्द्रनाथ ने कहा—केले के पत्ते तो पहले से ही बिछे हुए थे। उनके ऊपर एक-एक बैंगन-भाजा, थोड़ा-सा साग, चार-चार ठण्डी पूड़ियाँ, थोड़ा-सा नमक और एक-एक टुकड़ा नीबू—ये चीजें पहले से ही परोसी हुई थीं।

—उसके बाद?

—उसके बाद हम लोग सभी अपनी-अपनी जगह पर बैठ गये। हम लोगों के बैठने के बाद परोसने वाले लोगों में से एक ने कहा—अब आप लोग शुरू कीजिए। उनके कहने के साथ-साथ लोग पूड़ियों पर टूट पड़े और बैंगन-भाजा के साथ पूड़ियाँ खाने लगे।

कहते-कहते इन्द्रनाथ रुका।

—क्यों, रुक क्यों गये? बताइए न, आगे क्या हुआ?—कुमुद ने कहा।

—उसके बाद एक आदमी गर्म पूड़ियों से भरी हुई टोकरी ले आया और सबों को परोसता हुआ चला गया। फिर एक आदमी दाल का टोपिया लेकर आया और बारी बारी से सबों को दाल परोसने लगा।

—दाल निरामिष थी या मछली वाली?

—दोनों तरह की ही दालें थीं—शाकाहारी के लिए मूंग की दाल और सामिष भोजन करने वालों के लिए मछली की दाल। दोनों तरह की ही दालें मैंने लीं।

कुमुद हठात् बीच ही में टोकती हुई बोली—मछली वाली दाल को छोड़कर भला कोई निरामिष दाल खाता है क्या ? अगर मैं होती तो···। खैर छोड़िए, आगे क्या हुआ···?

उसके बाद और क्या होता ? उसके बाद आई मटर और बन्द गोभी की सब्जी।

—चैत महीने में बन्द गोभी ? कुमुद ने हैरान होते हुए पूछा—इस समय तो बन्द गोभी घास के बराबर होती है । कुम्हड़े की सब्जी बनानी चाहिए थी—चना डाल कर। मिर्च और तेजपत्ते के छौंक के साथ। ओह, टूनी दीदी की शादी में मैंने जो कुम्हड़े की सब्जी खाई थी, वह अभी तक मानो मेरी जीभ में लगी हुई है।

शादी की दावत में कुम्हड़े की सब्जी न बनने की बात सुनकर मानो कुमुद का चेहरा मुरझा गया।

खैर, आप रुक क्यों गये ? आगे बताइए न···!

इन्द्रनाथ का उत्साह मानो क्रमशः कम होता जा रहा था। उसने कहा—उसके बाद मछली परोसी गई···।

—ओह, सिर्फ मछली कहने से ही काम चलेगा क्या ? मछली का कोई नाम भी तो होगा। कलिया था या कोरमा···? मेरे बड़के भैया दावत से लौटने के बाद इतने शानदार तरीके से दावत का ब्योरा दिया करते थे कि हम लोग उसे सुनने के लिए आधी रात तक जगे रहा करते थे। आप न तो अच्छी तरह खाना जानते हैं और न ही दावत का किस्सा सुनाना···।

इन्द्रनाथ ने फिर कहना शुरू किया—कलिया और कोरमा—दोनों ही रोहू मछली का था।

—कोरमा कैसा बना था ? क्या कोरमे में ठीक-ठीक रंग आया था ?

—हाँ, लेकिन झींगा मच्छी की मलाईकरी अच्छी नहीं बनी थी।—इन्द्रनाथ ने डकार लेते हुए कहा।

—ओह, असल चीज ही खराब बना डाली ? क्यों, शायद नमक ज्यादा डाल दिया गया होगा।—कुमुद ने अफसोस जाहिर करते हुए कहा।

—झींगा मच्छी की मलाईकरी अच्छी क्यों नहीं लगी, यह तो बताना मुश्किल है; इन्द्रनाथ ने कहा—लेकिन एक टुकड़ा मुंह में रखने के बाद और मैं खा ही नहीं पाया।

इन्द्रनाथ एक टुकड़ा भी झींगा मच्छी की मलाई करी नहीं खा पाया, इस बात का दुःख मानो खुद इन्द्रनाथ के बजाय कुमुद को ही अधिक था। मानो कुमुद ही दावत से भूखी चली आयी थी। उसने पूछा—और बाकी लोग ? क्या उन्होंने भी झींगा मच्छी की मलाईकरी नहीं खाई ?

—नहीं···। कोई भी झींगा मच्छी की मलाईकरी नहीं खा पाया।—इन्द्रनाथ ने गंभीरतापूर्वक जवाब दिया।

इन्द्रनाथ और कुमुद—दोनों ही कुछ देर के लिए चुप रहे।

उसके बाद कुमुद ने ही मौन भंग किया। उसने पूछा—उसके बाद ?

—उसके बाद चटनी, पापड़ और दही···।

कुमुद कुछ पूछती, उसके पहले ही इन्द्रनाथ ने फिर कहा—दो तरह की चटनी थी। एक थी आलू बुखारे की और एक अदरख की···।

कुमुद हैरान रह गई। उसने पूछा—क्या कहा, अदरख की चटनी?

—हाँ-हाँ, अदरख की चटनी। बहुत ही बढ़िया बनी थी। उसके बाद मिठाइयाँ परोसी गईं—छह प्रकार की मिठाइयाँ।

—छह प्रकार की मिठाइयाँ? ताज्जुब के मारे कुमुद की आँखें फैल गईं।

—हाँ-हाँ, मैंने खुद गिनी थी। तीन तरह के संदेश थे—एक कड़े पाक का संदेश, दूसरा कच्चागोला और तीसरा जयहिन्द सन्देश। फिर था मिहिदाना, गुलाबजामुन और सब से आखिर में दरबेश···। जिसकी जितनी मर्जी हो, खाये!

कुमुद आश्चर्यचकित रह गई। कुछ क्षणों तक उसके मुँह से एक शब्द भी नहीं निकला। वह निर्निमेष दृष्टि से अपने पति की तरफ ताकती रही। क्या ऐसा मुमकिन है भला! धन्य हैं धरणी बाबू। सार्थक है उनके बड़े लड़के की शादी।

काफी देर के बाद कुमुद की चुप्पी टूटी।

उसने पूछा—आपने कितनी मिठाइयाँ खाईं?

इन्द्रनाथ चटपट इस सवाल का जवाब नहीं दे पाया। कुछ देर तक वह चुप रहा उसके बाद उसने शान्त स्वर में कहा—एक भी नहीं।

—एक भी नहीं। कुमुद को अपने पति इन्द्रनाथ पर बड़ा तरस आया।

—शुरू में ही आपने बेवकूफों की तरह फालतू चीजों से पेट भर लिया होगा। संदेश के लिए फिर भला जगह बचे भी कैसे?

—नहीं, ऐसी बात नहीं थी। इन्द्रनाथ ने गंभीरतापूर्वक जवाब दिया।

—तो फिर?

इन्द्रनाथ ने अपनी जेब में हाथ डाला। फिर उसने अपनी जेब से छोटी-सी पोटली बाहर निकाली। शर्म के मारे उसका माथा झुका जा रहा था। उसने कहा—मैंने सबों की नजरें बचाकर मिठाइयाँ जेब में डाल ली थीं। उसके बाद मैंने बाहर आकर उन्हें रूमाल में बांध लिया।

अब तक बबलू बड़ा ही उत्साहित हो उठा था। किसी परी-कथा का पक्षिराज घोड़ा मानो सशरीर आकर उपस्थित हो गया था। उसने कहा—माँ, मुझे भी दिखाओ न···।

कुमुद ने दोनों हाथों से उस पोटली को खोल डाला। लेकिन सारी मिठाइयाँ जेब में दबाव पड़ने के कारण एक वृहत् पिण्ड में बदल चुकी थीं। संदेश, मिहिदाना और दरबेश—सभी एकाकार हो चुके थे। खैर, भला इससे क्या बिगड़ता था। मिठाई [illegible] खराब होती नहीं। कुमुद ने मिठाइयों के उस पिण्ड को देखा और काफी देर तक [illegible] को भी दिखाया। उसके बाद उस पोटली को अपनी नाक के पास लाकर कुमुद ने [illegible]

—वाह, शादी की मिठाइयों की सुगन्ध अलग ही होती है। देख रहे हैं तो?

शादी की मिठाइयों की सुगन्ध क्या सचमुच ही अलग होती है, [illegible] कर इन्द्रनाथ ने भी इस बात को परखने की कोशिश की।

उसके वाद उसने ववलू ने पूछा—मुन्ने, क्या एक संदेश खाओगे ?

रात के डेढ़ या दो वजे होंगे। इन्द्रनाथ विछौने से उठ खड़ा हुआ। चारों ओर नीरवता छाई हुई थी।

अभ्यस्त रूप से इन्द्रनाथ मच्छरदानी उठाकर वाहर आया। छोटी खिड़की से चाँद की रोशनी आकर विछौने पर पड़ रही थी। कुमुद मजे में खर्राटे भर रही थी। खूब थकी जो थी। भोर चार वजे उठकर ही उसे चूल्हा जलाना होगा और भात पकाना होगा। मुन्ना भी सो रहा था। उसके सिरहाने एक काँसे की कटोरी में रात वाली मिठाइयां रखी हुई थीं। शायद वह सुवह होने पर घर के दरवाजे के सामने वैठकर मुहल्ले के सभी लड़कों को ललचा-ललचा कर मिठाइयाँ खायेगा।

इन्द्रनाथ आहिस्ता-आहिस्ता दवे पाँव कमरे के पूरवी कोने में आ गया। उसके वाद वह सुराही से एक गिलास पानी लेकर गटागट पी गया। फिर भी उसे ऐसा लगा मानों उसे शान्ति नहीं मिली। उसने फिर सुराही से गिलास में पानी भरा। वह आशंकित था कि कहीं कुमुद की नींद न टूट जाये। उसने दूसरा गिलास पानी भी पी लिया। फिर भी मानो वह प्यासा ही रह गया था।

खैर, तीसरा गिलास पीने के वाद उसे जरूर कुछ तसल्ली मिली।

वह मच्छरदानी उठाकर विछौने पर आ ही रहा था कि कुछ आवाज सुनकर कुमुद चौंकती हुई जग गई।

—कौन···? कौन···? कौन है···?

—मुझे प्यास लगी थी। इसीलिए मैं पानी पीने के लिए उठा था।

—इतनी प्यास क्यों लग रही है? पानी पीकर ही तो सोये थे।

इन्द्रनाथ ने कहा—पुलाव कुछ ज्यादा ही खा लिया था न और पुलाव में घी भी वेशुमार डाला गया था। सो वह पुलाव ही इतना पानी खींच रहा है।

नींद की खुमारी में मानो कुमुद ने इन्द्रनाथ की वातें सुनी ही नहीं।

उसके वाद दूसरे दिन सुवह भी इन्द्रनाथ के मुँह से सच्ची वातें नहीं निकल सकीं सच तो यह था कि धरणी वावू—उसके पुराने मालिक—वहुत वड़े आदमी थे। अपने वड़े लड़के की शादी के वहू-भात में उन्होंने मेहमानों को कच्चे नारियल का पानी पिलाकर और पान-सिगरेट देकर ही विदा कर दिया था। खुशकिस्मती से इन्द्रनाथ की ज़ेव में दो रुपये थे। उन्हीं रुपयों से वाजार से खरीदी मिठाइयां रूमाल में वाँधकर इन्द्रनाथ अपने घर लौट आया था।

कलकत्ता '85

बहुत पुरानी बात है—1940 ई० की। 1940 ई० की 10वी मई की···। जर्मनी के साथ हालैण्ड की लड़ाई शुरू हो चुकी थी। हालैण्ड एक गरीब देश, जर्मनी-सरीखे बलवान राष्ट्र के साथ लोहा ले सकने लायक साज-सामानों और हथियारो से रहित···! फिर भी लड़ाई तो लड़नी होगी। लड़ाई मे हार जाने पर काम नहीं चलेगा। और फिर यदि लड़ाई मे हालैण्ड पराजित हो जाये, तो फिर क्या दुनिया हालैण्ड-वासियों के देश-प्रेम पर उँगली नही उठायेगी? क्या होगा उनकी प्रिय मातृभूमि का। मातृभूमि का *अपमान तो पूरे देशवासियों का अपमान होता है।*

देखते-ही-देखते छोटे-से देश हालैण्ड के चप्पे-चप्पे मे लड़ाई की तैयारी शुरू हो गई। उन्होंने पहले सपने मे भी नही सोचा था कि जर्मनी-सरीखा पराक्रमी राष्ट्र उनकी मातृभूमि पर हमला बोल देगा।

आदमी का सबसे बड़ा दुश्मन उसका लोभ नही होता, उसका वैभव-विलास नही होता, उसका पाप नही होता और न ही होता है उसका बेहिसाबीपन। नही, इनमे से कोई भी आदमी का दुश्मन नही होता। आदमी का सबसे बडा दुश्मन होता है आदमी ही। *जर्मनों मे आपस में जितनी दुश्मनी रही है, उतनी दुश्मनी उनके साथ रूस, अमेरिका* या ग्रेट ब्रिटेन ने कभी नही निभायी।

रातों-रात हालैण्ड के शीर्षस्थ सैन्य अधिकारियो ने एक जरूरी मीटिंग बुलाई।

एक जनरल ने उस मीटिंग में खड़े होकर कहा—जर्मनी की ताकत के साथ हमारा क्या मुकाबला? उसके साथ हम किसी बूते पर लड़ाई लडेंगे?

उस जनरल के सुर मे सुर मिलाते हुए और एक जनरल ने कहा— हमलोगो के लिए बेहतर यही होगा कि हम लोग जर्मनी के साथ सन्धि कर लें। ऐसा नही करने पर *मटियामेट हो जायेंगे।*

उस मीटिंग मे और भी बहुत-से लोग शामिल थे। सबो के सिर पर मानो नंगी तलवार लटक रही थी। किसी भी क्षण हालैण्ड जर्मनी की मुट्ठी मे जा सकता था···! बेकार की बातों मे वक्त बर्बाद करना फिजूल था। सीमा पर बसे लोग घर-बार छोड़कर जहाँ-तहाँ भाग रहे थे। सारे देश के लोग भयभीत और आतंकग्रस्त थे। किसी भी क्षण—

लोगों की स्वाभाविक जीवन-यात्रा छिन्न-भिन्न हो जा सकती थी।

हठात् वज्र के समान कड़कती हुई एक आवाज गूंज उठी—खामोश···।

ऐसा प्रतीत हुआ कि मानो अकस्मात् बिजली गिर पड़ी हो! जिस ओर से वह कड़कती हुई आवाज आई थी, सबों की आँखें उसी ओर केन्द्रित हो उठीं।

हालैण्ड के कमाण्डर-इन-चीफ अपनी कुर्सी से उठ खड़े थे।

उन्होंने पूछा—क्या आप लोग अपने प्राण न्योछावर करने के लिए तैयार हैं? क्या आप अपने जीवन का बलिदान करने को प्रस्तुत हैं?

कमाण्डर-इन-चीफ का एक-एक शब्द सभा-कक्ष के कोने-कोने में गूंजने लगा।

—आप लोग बताइए, क्या आप अपने प्राणों की कुर्बानी देंगे? और अगर आप कुर्बानी नही दे सकते, तो मैं आप सबों को इसी वक्त डिस्चार्ज कर दूंगा। मैं आप लोगों की जगह ऐसे नये अफसरों को बहाल करूँगा, जो देश के लिए बलिवेदी पर जाने के लिए अपने पैर पीछे नहीं हटायेंगे। बताइए, आप जीवन का बलिदान दे सकते हैं या नहीं? मैं सिर्फ एक ही जवाब सुनना चाहता हूँ। 'हाँ' या 'नही'···।

कमाण्डर-इन-चीफ के हुक्म को न मानने की हिम्मत भला किसमें थी?

सबों ने एक ही स्वर में कहा—हाँ···।

—तो आप अपने जीवन का बलिदान करने के लिए तैयार हैं!

—जी हाँ, हमलोग तैयार हैं।

और फिर साथ ही मीटिंग बर्खास्त कर दी गई।

मानव-इतिहास में वह दिन एक चरम भयावह युद्ध की सूचना का दिन था। रण-वाद्यों के तुमुल घोष से आकाश गूंज उठा। आदमी को अपने लोभ का त्याग करना होगा, वैभव-विलास का त्याग करना होगा, पाप का त्याग करना होगा और साथ-ही-साथ त्याग करना होगा अपने बहुमूल्य जीवन का भी।

और सचमुच उस दिन हालैण्ड-वासियों में प्राणों की बाजी लगाने के लिए होड़ लग गई।

लेकिन इसी बीच और एक विपत्ति अकस्मात् ही आ पड़ी। यह नई विपत्ति भी कम भयावह नहीं थी।

एक दिन अचानक समूचा हालैण्ड एक दुर्भेद्य अँधेरे में डूब गया। समूचे हालैण्ड में रोशनी नहीं, पंखे नहीं, पानी नहीं···। कल-कारखाने अचल हो गये। ऐसा लगा कि मानो हालैण्ड के सारे कार्य-कलाप ही थम गये हों, रुक गये हों···। किसने किया है ऐसा सर्वनाश? यह कोई तोड़-फोड़ की कारवाई तो नहीं? किसी की देशद्रोहिता तो नहीं?

उस दिन हालैण्ड की महारानी के राज्य में चारों ओर भीषण हो-हल्ला मच गया। अपराधी को ढूंढ निकालने के लिए लोग मुस्तैदी के साथ जुट गये। आखिर इसकी वजह क्या है? इसके मूल में कौन है? उसे गिरफ्तार करना होगा। गिरफ्तार करके उसे जेल की काल-कोठरी में ठूंस देना होगा। और उसके बाद उसे फांसी के फन्दे से झुला देना होगा।

दुर्घटना के साथ-साथ ही खोज-बीन शुरू हो गई। इस विपत्ति का मूल कारण

ढूंढ निकालने के लिए महारानी की पुलिस, मिलिटरी और जासूस—सभी ने दिन-रात एक कर दिया। हुक्म जारी किया गया किसी भी तरह अपराधी को गिरफ्तार करना ही होगा। और फिर यदि अपराधी को तत्काल गिरफ्तार नहीं किया सका, तो कम-से-कम पावर-हाउस की मशीन में आवश्यक मरम्मत कर काम तो चालू करना ही होगा। हमें रोशनी चाहिए, हवा चाहिए, पानी चाहिए···। हम लोग जिंदा रहना चाहते हैं। जर्मनी के हिटलर के साथ हम अपने शरीर के आखिरी रक्त-बिन्दु तक लड़ाई लड़ना चाहते हैं। हम जानना चाहते हैं कि जब हम बाहरी दुश्मन का मुकाबला करने की तैयारी में लगे हुए हैं, तो फिर हमारे देश के भीतर भी भला किस गद्दार ने अपनी गद्दारी का परिचय दिया है ?

मैंने पूछा—उसके बाद ?

सुकुमार बाबू के सामने बैठा-बैठा मैं अब तक उनकी बातें सुन रहा था। सुकुमार बाबू यानी सुकुमार रंजन सरकार, उत्तर बंगाल विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कुलपति ! लाखों-लाख छात्र उनके हाथों सुयोग्य नागरिक बनकर समाज में सुप्रतिष्ठित हो चुके थे। मैं भी उनका एक प्रिय छात्र रह चुका हूँ। इस बार हठात् कलकत्ता आने पर जब खबर मिली कि वे एक दुर्घटना में घायल होकर अस्पताल में भर्ती हैं, तब मैं तुरंत उनसे मिलने के लिए अस्पताल चला आया।

अस्पताल आने पर मैंने दुर्घटना का जो ब्योरा सुना, वह बड़ा ही मर्मान्तक था···।

सुकुमार बाबू वृद्ध हो चले थे। डॉक्टरों के परामर्श के अनुसार वे सुबह-शाम घूमने के लिए निकला करते थे। सुबह तो वे लेक की तरफ चले जाया करते थे। लेकिन शाम को अपने मुहल्ले के फुटपाथ पर ही टहलना उन्हें पसन्द था।

उस दिन शाम को वे घूमने के लिए ही निकले थे। उसी समय यह घातक दुर्घटना हो गई। घर से जब वे टहलने के लिए निकले थे, तब उन्होंने पल भर के लिए भी नहीं सोचा होगा कि वे दुर्घटनाग्रस्त भी हो सकते हैं ! वे टहलने के लिए निकल पड़े। कुछ दूर तक जाने के बाद ही—जैसा कि कलकत्ता में अक्सर होता है—हठात् बिना किसी पूर्व-सूचना के लोड-शेडिंग हो गई। यानी बिजली गुल···। लाचार होकर उस अंधेरे में ही सुकुमार बाबू घर की तरफ लौटने लगे।

लेकिन भला यह किसे मालूम था कि उसी राह में अदृश्य मृत्यु का फन्दा पड़ा हुआ था !

सामने एक 'मैन होल' था। 'मैन होल' के ढक्कन को न जाने कब किसी ने चुपचाप चुरा लिया था। कलकत्ता में 'मैन होल' के ढक्कनों की चोरी कोई नयी बात नहीं···।

सुकुमार बाबू उस 'मैन होल' में गिर पड़े। एकबारगी दस फीट गहरे गड्ढे में···। वे किसी को सहायता के लिए पुकारते, इसका भी उपाय न था। सारी रात

'मैन होल' के भीतर वेहोश पड़े रहे।

दूसरे दिन सुवह पुलिस के एक कांस्टेवल की नजर उन पर पड़ी। सुकुमार वावू को उस हालत में देख उसने झट-पट उन्हें 'मैन होल' से वाहर निकाला और एक अस्पताल में दाखिल करा दिया।

मैं जव ये सारी खवरें सुनकर उनसे मिलने के लिए अस्पताल में गया, तव तक उस दुर्घटना को हुए एक महीना वीत चुका था। मैंने देखा कि सुकुमार वावू अस्पताल के वेड पड़े थे। उनके हाथों पर, पैरों पर और मस्तक पर पट्टियाँ वँधी हुई थीं। मुझे देखकर संभवतः उन्हें सान्त्वना मिली। वे आनन्दित हुए।

मैंने उन्हें दिलासा देते हुए कहा—सर, मैं तो कहता हूँ कि आपको मुकदमा कर देना चाहिए···।

सुकुमार वावू हँसने लगे थे। लेकिन दरअसल सुकुमार वावू उस वक्त हँस रहे थे या रो रहे थे, यह मैं समझ ही नहीं पाया।

उन्होंने पूछा—मुकदमा? लेकिन किसके विरुद्ध मुकदमा करूँगा, यह तो वताओ?

मैंने कहा—क्यों, सरकार के विरुद्ध। कलकत्ता कारपोरेशन के विरुद्ध···।

सुकुमार वावू मेरी वातें सुनकर कुछ क्षणों के लिए चुप रहे। संभवतः वातचीत करने में उन्हें वहुत तकलीफ हो रही थी फिर भी उन्होंने मुझसे कहा—एक कहानी सुनोगे विमल?

मैंने पूछा—कैसी कहानी?

सुकुमार वावू वोले—इतिहास की एक कहानी···।

यह कहकर वे 1940 ई० की 10वीं मई की उपर्युक्त कहानी सुनाने लगे थे।

सुकुमार वावू वोले—उसी हालैण्ड के ऊपर जर्मनी की सेना वम-वन्दूक और रायफल के साथ धावा वोलने ही वाली थी।

फिर उन्होंने पूरे हालैण्ड में रोशनी वन्द होने की, हवा वन्द होने की और पानी वन्द होने की कहानी सुनाई।

उसके वाद कहानी सुनाते-सुनाते हठात् सुकुमार वावू रुक गये। वे कुछ पलों के लिए सुस्ताने लगे।

मैंने फिर पूछा—उसके वाद? उसके वाद क्या हुआ सर?

सुकुमार वावू आगे की कहानी सुनाने लगे।

—उसके वाद हठात् रोशनी और हवा-पानी वन्द होने की वजह पकड़ में आ गई। यह पाया गया कि हालैण्ड के शत्रु लाखों की तादाद में नहीं थे, हजारों की तादाद में नहीं थे, यहाँ तक कि सौ-पचास या दस-पांच की संख्या में भी नहीं थे। हालैण्ड-जैसे देश का शत्रु था सिर्फ एक ही। हालैण्ड के पावर-हाउस की एक मशीन न जाने कैसे खराव हो गई थी। और उस छोटी-सी मशीन के विगड़ जाने का कारण था एक छोटा-सा 'स्क्रू'। वह 'स्क्रू' न जाने कैसे ढीला पड़ गया था।

उसके वाद सुकुमार वावू फिर पल भर के लिए रुके। तत्पश्चात् उन्होंने फिर

कहना शुरू किया—तुम मुकदमे की बात कर रहे हो। किन्तु अगर मैं मुकदमा करूँगा तो मुझे सबों के खिलाफ मुकदमा करना पड़ेगा। इसकी वजह यह है कि यह पाप मेरा भी है, हम सभी लोगों का है। किसके पाप के लिए हम किसे कुसूरवार ठहरायेंगे? यहाँ कलकत्ता में पानी नहीं है, रोशनी नहीं है, हवा नहीं है···। जूलूसों से रास्ते जाम रहते हैं। बस-ट्राम में लोग झूल रहे हैं। फुटपाथों पर हॉकरों ने कब्जा कर रखा है। यहाँ कानून नाम की कोई चीज ही खुद नहीं रह गई। सरकार की हड़तालों का आह्वान करती है···। थोड़ी-सी बारिश होने पर ही सड़कों पर नावें चलने लगती हैं। उफ्, यह शहर है या नरक···? बोलो विमल, तुम ही बोलो! आखिर इन सबों के लिए हम किसे कुसूरवार ठहरायेंगे? देखो, हमलोगों का दुश्मन अमेरिका है नहीं, रूस नहीं है, हिन्दू भी नहीं, मुसलमान भी नहीं। सिख, पंजाबी, आसामी और बंगाली—कोई भी हमारा दुश्मन नहीं है। हमारा दुश्मन तो सिर्फ एक ही है।

—कौन है वह दुश्मन?

—हमारे देश के पावर-हाउस का एक 'स्क्रू' न जाने कैसे ढीला हो गया है। हम लोग उसे ढूँढ नहीं पा रहे हैं। हम लोगों के देश के निवासियों का वही 'स्क्रू' कस देने पर हमलोग फिर से रोशनी पायेंगे, हवा पायेंगे, पानी पायेंगे···।

—आखिर वह चीज क्या है, सर?

सुकुमार बाबू बोले—वह चीज है 'चरित्र'। 'चरित्र' एक बहुत ही छोटी-सी चीज है। लेकिन सच तो यह है कि 'चरित्र' की तरह बड़ी चीज भी संभवतः कोई दूसरी नहीं। आज उसी 'चरित्र' को हम खो बैठे हैं।

कहते-कहते सुकुमार बाबू चुप हो गये। उनकी बूढ़ी आँखों से झर-झर आँसू बहने लगे। वह रुदन यंत्रणा का था, या क्षोभ का, या आत्मग्लानि का, या क्रोध का—यह मैं समझ नहीं पाया। उसके बाद डॉक्टर के निर्देश के अनुसार हमलोग सभी वहाँ से बाहर निकल आये। हम सबों की आँखें भी नम हो आई थीं।

और उसके बाद वाले दिन ही सुकुमार बाबू इस दुनिया से कूच कर गये। देश के बारे में सोचने वाले और देशवासियों के भले-बुरे की चिन्ता करने वाले आखिरी इन्सान को हमने सदा-सर्वदा के लिए खो दिया।

अब तक एक चरित्रवान व्यक्ति बचा हुआ था, उसे भी हमने फुटपाथ पर बने 'मैन होल' के गड्ढे में ढकेल कर मार डाला।

फर्स्ट कौन ?

जिन्दगी की दौड़ में कौन फर्स्ट होगा और कौन लास्ट, इसके बारे में भला कौन बता सकता है ? ऐसा भी देखा गया है कि एक लड़का अपने प्रारंभिक जीवन में पहली क्लास से शुरू कर आखिरी तक हमेशा अपनी क्लास में फर्स्ट होता है। लेकिन बाद के जीवन में वही लड़का लास्ट ही नहीं होता, बल्कि अनगिनत आदमियों की भीड़ में न जाने कहाँ गुम हो जाता है। ऐसे बहुत-से उदाहरण आसानी से मिल जायेंगे।

याद आता है कि कभी स्कूल के पुरस्कार-वितरण-समारोह में सभापति महोदय ने उसी लड़के के गले में सोने का मेडल पहना दिया था और उसे शाबाशी देते हुए कहा था—तुम अपनी जिन्दगी की आखिरी परीक्षा में भी प्रथम स्थान प्राप्त करो ! मैं तुम्हें यही आशीर्वाद देता हूँ।

दुःख की बात तो यह है कि सभापति महोदय की उस दिन आशीष-वाणी सरासर गलत साबित हुई। वह लड़का अपने जीवन की शेष परीक्षा में फर्स्ट तो नहीं ही हुआ, बल्कि वह पास तक नहीं हो पाया। वह एकबारगी फेल हो गया। उस समय फिर उसे कोई पहचानता भी नहीं। अनजानी जगह में अनजान आदमी की भांति अत्यन्त दीन-हीन हालत में उसे दिन बिताने पड़ते हैं।

बचपन का ही एक किस्सा सुनाता हूँ।

हमलोगों के स्कूल का फर्स्ट ब्वाय सुनन्द एक बड़े आदमी का लड़का था। उन लोगों के ऐश्वर्य और नाम-यश से मुहल्ले के सभी लोग परिचित थे। इसीलिए स्कूल के हेड मास्टर से शुरू कर प्रत्येक मास्टरसाहब ही सुनन्द की विशेष खातिर किया करते।

उन दिनों हमलोग सभी अपने-अपने मुहल्ले के स्कूल में ही पढ़ा करते थे। आज-कल की तरह बस में बैठकर नामी-गिरामी अंग्रेजी स्कूलों में पढ़ने का तब रिवाज नहीं था। हमलोग घर से पैदल ही स्कूल जाया करते थे। यहाँ तक कि टालीगंज या भवानी पुर के लड़के भी ट्राम-बस में बैठकर आने के बजाय पैदल ही स्कूल आते। और फिर उन दिनों कलकत्ते में स्कूली बच्चों को चुरा लेने का कोई उपद्रव भी नहीं था।

लेकिन सुनन्द अपने गोपाल दा के साथ आया करता।

सुनन्द के माता-पिता कभी भी उसे अकेले रास्ते में निकलने नहीं देते।

लेकिन सुनन्द को यह बिलकुल पसन्द नहीं था कि कोई आदमी उसे स्कूल तक पहुँचाया करे।

सुनन्द के पिता जी कहा करते—गोपाल तुम्हें अपने साथ स्कूल ले जाया करेगा।

सुनन्द कहता—लेकिन और किसी भी लड़के के साथ तो कोई आदमी नहीं आता। वे लोग तो अकेले ही स्कूल चले आया करते हैं।

यह सुनकर सुनन्द के पिता जी कहते—उनकी बात छोड़ दो। उनको स्कूल पहुँचाने के लिए कोई आदमी नहीं है, इसीलिए वे लड़के अकेले स्कूल आते हैं और छुट्टी होने पर अकेले ही घर लौटते हैं। लेकिन तुम्हारे लिए तो गोपाल है। गोपाल तुम्हें रोज स्कूल पहुँचा दिया करेगा और छुट्टी होने पर तुम्हें अपने साथ घर ले आया करेगा।

सुनन्द को यह बात अच्छी नहीं लगती। उसकी इच्छा होती कि दूसरे लड़कों की तरह वह भी अकेला स्कूल आये और छुट्टी होने पर अकेला ही घर तक लौट कर जाये।

सुनन्द को और एक बात पर गहरा एतराज था।

दोपहर में टिफिन के वक्त गोपाल सुनन्द के लिए जलपान लाया करता। जलपान यानी एक गिलास दूध और दो रसगुल्ले, या कभी दो बड़े-बड़े संदेश।

हम लोग जो कि गरीब घर के लड़के थे, टिफिन के वक्त चनाचूर या दाल-पूड़ी और आलूदम खरीद कर खाया करते। हमलोगों के माता-पिता इसके लिए हमें रोज एक इकन्नी या दुअन्नी दिया करते। और फिर कुछ लड़के ऐसे भी होते, जिन्हें टिफिन के लिए एक पैसा भी नहीं मिलता। वैसे लड़के टिफिन के वक्त भूखे रहते; या फिर कभी-कभार अपने किसी दोस्त से माँग कर कुछ खा लिया करते।

टिफिन के वक्त हमलोग कुछ दूर खड़े होकर सुनन्द को खाते हुए देखते।

टिफिन के समय स्कूल का गेट बन्द कर दिया जाता था। गेट के बाहर घुघनी, दाल-पूड़ी, आलूदम आदि चीजें बेचने वाले फेरीवाले बैठे रहते। हमलोग गेट की रेलिंग से हाथ बढ़ाकर वे सब चीजें खरीदा करते।

लेकिन सुनन्द था बड़े घर का लड़का। इसलिए टिफिन के वक्त उसके लिए गोपाल जलपान लेकर आता। गोपाल के आने पर दरवान गेट खोल दिया करता। सुनन्द के जलपान कर चुकने पर दरवान फिर से गेट खोल दिया करता, ताकि गोपाल खाली कटोरदान और दूध का खाली गिलास लेकर गेट के बाहर जा सके।

सुनन्द जलपान जरूर करता, लेकिन जहाँ तक हो पाता, लुक-छिपकर। उसे ऐसा अनुभव होता कि मानो वह कोई पाप का काम कर रहा हो।

हमलोग सुनन्द से कहते—क्यों रे सुनन्द, तुम्हें इतना संकोच क्यों होता है?

सुनन्द जवाब देता—देखो न भाई, पिता जी ने मुझे कैसी मुसीबत में डाल दिया है। मैंने कितनी ही बार कहा कि मेरे लिए जलपान और दूध भेजने की कोई जरूरत नहीं है। मुझे भूख नहीं लगती। लेकिन फिर भी कोई मेरी बात सुनता नहीं···!

सिर्फ जलपान के बारे में ही नहीं, स्कूल पहुँचाने और स्कूल से घर तक ले

के लिए भी गोपाल का आना सुनन्द को बेहद अखरता था। सुनन्द की धारणा थी कि वह अब इतना बड़ा जरूर हो चुका था कि अकेला ही स्कूल जा सके और छुट्टी होने पर स्कूल से घर लौट सके।

लेकिन सुनन्द के माता-पिता उसका पिण्ड नहीं छोड़ते। कहते—नहीं, रास्ते में कितने ही गुंडे-बदमाश घूमते-फिरते हैं। वे लोग तुम्हारे साथ मार-पीट कर सकते हैं, या फिर तुम्हारी कॉपी-किताबें ही छीन सकते हैं। इसलिए गोपाल हर रोज तुम्हारे साथ जाया-आया करेगा।

लेकिन सुनन्द सचमुच ही बेहद शर्मिन्दगी का अनुभव किया करता।

अपने भवानीपुर के घर से जब सुनन्द स्कूल जाने के लिए निकलता, तब गोपाल भी उसके पीछे हो लेता। लेकिन गोपाल को कोई भी उसके साथ देख न ले, इसलिए सुनन्द दौड़ते-दौड़ते गोपाल से काफी आगे निकल जाया करता।

फिर तो गोपाल भारी चिन्ता-फिक्र में डूब जाता। वह चिल्ला कर कहता—मुन्ने बाबू, ओ मुन्ने बाबू···। इस तरह दौड़ो नहीं। किसी भी गाड़ी के नीचे आ जाओगे। धीरे-धीरे चलो मुन्ने बाबू, मेरे साथ-साथ···।

किन्तु बेचारे गोपाल की बात सुनता कौन?

सुनन्द उस समय छोटा था, लेकिन गोपाल की काफी उम्र हो चुकी थी। वह सुनन्द के साथ दौड़ने में पीछे छूट जाया करता···।

गोपाल जितनी तेजी से दौड़ता, सुनन्द उतनी ही तेजी से दौड़कर आगे बढ़ जाता।

पीछे से गोपाल चिल्ला कर कहता—ओ मुन्ने बाबू···। इस कदर दौड़ क्यों रहे हो? गिड़ पड़ोगे और हड्डी-पसली टूट जायेगी।

लेकिन भला गोपाल की बातों की सुनन्द को परवाह ही क्या थी!

रास्ते पर उस समय कितनी ही साइकिलें, ठेला गाड़ियाँ और मोटरें चला करतीं। मुन्ना बाबू उनमें से किसी की भी चपेट में आ सकता था। गोपाल को हर क्षण यही चिन्ता लगी रहती। भगवान न करे, लेकिन अगर इस तरह कोई दुर्घटना हो गई, तो फिर क्या होगा?

घर पर गोपाल के जिम्मे कोई विशेष काम नहीं था। सुनन्द का एक बड़ा भाई था। कुछेक वर्षों पहले वह किसी एक असाध्य रोग से ग्रस्त होकर अस्पताल में ही चल बसा था। उसे भी गोपाल ने ही बड़ा किया था। लेकिन गोपाल अब तक उसका शोक भुला नहीं पाया था। सुनन्द के माता-पिता भले ही अपने लड़के की मौत का गम भुला चुके थे, लेकिन गोपाल उसकी याद आते ही रोने लगता। वह किसी से भी कुछ कहता नहीं, बस चुपचाप गमछे से अपने आँसू पोंछ लिया करता!

न जाने कब लगभग पाँच साल की उम्र में गोपाल देश छोड़कर इस घर में चला आया था। उसके बाद तो यह घर उसका अपना घर बन गया था। उसे ऐसा लगता कि यही घर उसका अपना घर था और यहीं के लोग थे उसके माँ-बाप। इस घर में अगर रसोइया ज्यादा चीनी खर्च करता, तो यह भी उसके बर्दाश्त के बाहर था। अपने आप

ही वह कह उठता—यह क्या हो रहा है महाराज जी ? इतनी चीनी आपने बर्बाद कर दी…।

इस घर के किसी नौकर के हाथ से यदि कोई मामूली-सा काँच का गिलास भी फूट जाता, तो भले ही घर के मालिक-मालकिन को इस बात की कोई परवाह नहीं होती, लेकिन गोपाल के लिए यह असह्य हो उठता। वह कहता—एक गिलास की कीमत कम होती है क्या ? खामख्वाह तोड डाला…।

उसी गोपाल को हम लोग हर रोज देखा करते। कमर मे एक धोती पहने, बदन पर आधी बाँह का फतुआ…। हाथ मे एक काँसे का गिलास और एक बड़ा-सा कटोरदान। गिलास दूध से भरा होता और कटोरदान मे होते दो रसगुल्ले अथवा संदेश।

सुनन्द को जलपान करा देने के बाद मानो गोपाल को परम तृप्ति का अनुभव होता।

सुनन्द रोज ही एक ही तरह का जलपान करते-करते ऊब जाता। हम लोगो की तरह उसकी भी इच्छा होती कि वह घुघनी या दाल-पूडी खाये। किन्तु घुघनी या दाल-पूडी खाना उसके नसीब मे नही था। ये सब चीजें खाने पर तन्दुरुस्ती खराब हो जाती है। इसीलिए गोपाल सुनन्द को ये सब चीजें खाने नही देता।

कभी-कभार अगर सुनन्द हम लोगों से माँग कर घुघनी और दाल-पूडी खा भी लेता, तो हमे होशियार कर दिया करता—देखो भाई, तुम लोग गोपाल से भूलकर भी मत कह देना कि मैंने घुघनी और दाल-पूडी खाई है। नही तो गोपाल जाकर पिताजी के पास मेरी शिकायत कर देगा।

सच तो यह था कि सुनन्द को अपने माता-पिता से जितना डर नही था, उससे ज्यादा डर था खुद गोपाल से ही। दरअसल गोपाल ही उसका गार्जियन बना हुआ था।

और क्या सिर्फ यही ? गोपाल नही चाहता था कि सुनन्द हम लोगों के जैसे गरीब लड़को से मेल-जोल रखे। गोपाल की शायद धारणा थी कि हम लोगों के साथ मेल-जोल रखने पर सुनन्द भी बर्बाद हो जायेगा।

और फिर मजे की बात यह कि दुनिया में अपना कहने को गोपाल का कोई भी नही था। बचपन में उसके माँ-बाप जरूर रहे होंगे, लेकिन गोपाल ने अपने माँ-बाप को देखा ही नही। अगर देखा भी हो, तो उसे इस समय उनकी बात याद नही। जीवन की धारा मे डूबते-उतराते वह सुनन्द के घर-संसार मे आ पहुँचा एव उसके बाद से ही वह इसी घर का एक सदस्य बनकर रह गया। और फिर इसी तरह धीरे-धीरे गोपाल सुनन्द के लिए एक दिन गोपाल दा बन गया।

सुनन्द कहता—जानते हो, यह गोपाल दा आदमी बडा वाहियात है।

हम लोग पूछते—क्यों भाई ?

सुनन्द कहता—घर पर अगर मैं ठीक से पढ़ाई नही करूँ, तो वह मास्टर साहब के आने पर मेरी चुगली कर देता है।

हम लोग पूछते—क्यो, गोपाल दा मास्टर साहब से क्या कह देता है

सुनन्द कहता—गोपाल दा चाहता है कि मास्टर साहब मुझे खूब डाँटें-फटकारें। इसीलिए मास्टर साहब के आते ही गोपाल दा कह देता है—मास्टर साहब, सुनन्द ने आज एक अक्षर भी पढ़ाई नहीं की है। वह केवल छत पर जाकर पतंग उड़ाता रहा है। आप उसे जरा डाँट दीजिए तो !

हम लोग सुनन्द से पूछते—गोपाल दा की बातें सुनकर मास्टर साहब क्या कहा करते हैं ?

मास्टर साहब भला क्या कहेंगे ? वे हँसने लगते हैं। हँसकर कहते हैं—ठीक है ··। तुम्हारे मुन्ने बाबू को मैं खूब डाँट दूंगा। इस समय तुम यहाँ से जाओ भी···।

छुट्टी होने पर गोपाल सुनन्द को अपने साथ स्कूल से घर ले जाने के लिए वहाँ हाजिर हो जाता।

लेकिग गोपाल को देखते ही सुनन्द अपने घर की तरफ दौड़ पड़ता। और गोपाल भी सुनन्द के पीछे-पीछे दौड़ने लगता···।

लेकिन इस दौड़ में गोपाल सुनन्द से पार नहीं पाता। गोपाल सुनन्द के पीछे दौड़ते-दौड़ते चिल्लाता—मुन्ने बाबू, धीरे-धीरे चलो। इस तरह दौड़ो नहीं। गाड़ी के नीचे आ जाओगे···।

लेकिन सुनन्द को गोपाल की बातों की परवाह ही क्या थी ?

गोपाल चिल्लाता—मैं तुम्हारे मास्टर साहब से कह दूंगा। मुन्ने बाबू···, ओ मुन्ने बाबू···।

हम लोग दूर से ही उन्हें देखते। देखें, इन दोनों की दौड़ में फर्स्ट कौन होता है ? गोपाल या सुनन्द···?

लेकिन हर बार सुनन्द फर्स्ट होता। सुनन्द के साथ दौड़ने में गोपाल हर बार हार जाता, पराजित हो जाता।

हमेशा ऐसा ही हुआ करता। सुनन्द हमेशा फर्स्ट होता और गोपाल होता लास्ट। गोपाल को हराकर मानो सुनन्द को परम तृप्ति मिला करती।

और हम लोग भी गोपाल को हारते हुए देखकर खुश ही होते।

इसीलिए गोपाल को देखते ही हम लोग उसे चिढ़ाया करते। कहते—छिः-छिः-छिः; हार गया भाई हार गया, गोपाल दादा हार गया···।

हम लोगों की बातें सुनकर गोपाल बिगड़ पड़ता। वह कहता—तुम लोगों की संगत में पड़कर ही तो हमारा मुन्ना बाबू इतना शैतान बन गया है।

लेकिन हम लोग गोपाल की बातों पर ध्यान नहीं देते। हम लोग जोर-जोर से उसे चिढ़ाने लगते—छिः-छिः-छिः, हार गया भाई, हार गया, गोपाल दादा हार गया···।

उसके बाद स्कूल की पढ़ाई पूरी कर हम लोगों में से कौन कहाँ चला गया, इसका कोई ठिकाना न था। मनुष्य मात्र के जीवन में एक-न-एक बार ज्वार आता ही है। उस ज्वार

में कोई अतल गहराई में डूब जाता है, तो कोई तैरते-तैरते न जाने कहाँ से कहाँ चला जाता है। तब किसी को किसी की खबर तक नही रह पाती।

लेकिन एक अरसे के बाद अगर उसी पुराने दोस्त के साथ मुलाकात हो जाये तो···?

सो इस बार ऐसा ही हुआ।

आकस्मिक रूप से ही एक दिन एक दूसरे शहर में मेरी सुनन्द के साथ मुलाकात हो गई।

सुनन्द उड़ीसा के बालेश्वर जिले के चाँदीपुर नामक स्थान में एक रेस्ट-हाउस में रुका हुआ था। किसी सरकारी जांच-पड़ताल के सिलसिले में वह वहाँ आया था। और मैं वहाँ गया था एक साहित्य-सभा में भाषण देने के लिए। सुनन्द था उस जिले का डिप्टी कलक्टर।

उसे देखकर मुझे जितनी खुशी हुई, मुझे देखकर उसे भी उतनी ही खुशी हुई। दोनों ने अपनी-अपनी रामकहानी एक-दूसरे को सुनाई। एक साथ बैठकर चाय पीते-पीते हठात् सुनन्द की दोनों आँखें डबडबा आईं।

उसने कहा—जानते हो भाई, आज मैं लास्ट हो गया हूँ।

—लास्ट हो गये हो, इसका मतलब ? किस चीज मे तुम लास्ट हो गये हो ?

सुनन्द ने कहा—जिन्दगी की रेस में। जिन्दगी की घुड़दौड़ का' मैं आखिरी घोड़ा साबित हो चुका हूँ।

—क्यों ? किस तरह ?

सुनन्द ने कहा—भाई, तुम तो जानते ही हो कि स्कूल के दिनों में मैं दौड में गोपाल को हमेशा हरा दिया करता था। मैं फर्स्ट हुआ करता था और गोपाल होता था लास्ट। तुम लोग गोपाल को चिढाया करते थे···। 'हार गया भाई हार गया, गोपाल दादा हार गया···।'

मैंने कहा—हाँ भाई। लेकिन यह तो बहुत पुरानी बात है।

सुनन्द ने कहा—पिछले इतवार की ही बात है। उसी गोपाल दा ने मुझे लास्ट कर दिया है और वह खुद हो चुका है फर्स्ट।

लेकिन बात मेरी समझ में नही आई।

सुनन्द ने अपनी बात को स्पष्ट करते हुए कहा—जानते हो विमल, अपने माता-पिता की मृत्यु होने पर भी मैं इतना दुखित नही हुआ था। शनिवार तक ऐसा कोई भी पूर्वाभास नहीं मिला। इतवार के दिन मैंने गोपाल दा के कमरे में जाकर उसे पुकारा। लेकिन मुझे कोई भी जवाब नही मिला। उसके बाद उसके बदन पर हाथ रखकर मैंने देखा—बदन बिल्कुल ठंडा था। गोपाल दा ने इस बार दौड में मुझे हरा दिया था और वह खुद फर्स्ट हो गया था। और मैं हो गया लास्ट। और वैसे देखा जाये तो मैं ही हमेशा फर्स्ट हुआ करता था और गोपाल दा लास्ट। आज मुझे पराजित होने पर चिढ़ायेगा कौन ? कौन कहेगा—हार गया भाई हार गया, सुनन्द हार गया··· । तुम लोग तो कोई भी यहाँ हो नही। आज मुझे कौन चिढ़ायेगा···?

कहते-कहते सुनन्द का गला रुंध गया और वह रूमाल निकालकर चुपचाप अपनी आँखें पोंछने लगा।

डोरी

मेरी समझ में ही नहीं आ रहा है कि यह कहानी मैं कैसे लिखूं ! इसमें न कोई नायक है, न कोई नायिका। इस कहानी में प्रेम नहीं, विवाह नहीं, मिलन नहीं, विछोह नहीं और न ही है सेक्स। भला मेरे दोस्त सुप्रिय सरकार की यह कहानी कौन पढ़ेगा ? फिर यह कहानी है एक मामूली-सी चीज पर आधारित। वह चीज है एक डोरी।

मेरा दोस्त सुप्रिय एक जज था। यह घटना उस समय की है, जबकि उसने अपने जीवन में पहली बार फाँसी का हुक्म सुनाया था। घर आने पर नितान्त अस्वस्थ हो चुका था, तन से भी और मन से भी। रह-रह कर वंशी की भयार्त्त मुख-मुद्रा उसकी आँखों के सामने तैर जा रही थी। वंशी के डर के मारे पीले पड़े चेहरे की याद आते ही आधी रात को हठात् सुप्रिय की नींद टूट गई। उसका रोम-रोम सिहर उठा।

सुप्रिय ने अपनी जिन्दगी में पहली बार फांसी का यह हुक्म सुनाया था।

इसके पहले भी खून के मुजरिमों से उसका पाला पड़ चुका है। एक बार लड़की को लेकर दो दोस्तों में विवाद हो गया था और एक ने दूसरे का खून कर दिया था। उस समय सुप्रिय को आजीवन कारावास की सजा सुनानी पड़ी थी। किन्तु वह तो फिर भी ठीक था। कम-से-कम वह धरती पर जीवित रहेगा और प्रकाश और वायु का स्पर्श उसे मिलेगा। हो सकता है कि उसकी उम्र कुछ कम हो जाये, परन्तु कानून की दुहाई देकर किसी को फांसी के फंदे से लटका देना सचमुच बड़ा भयावह था। सुप्रिय ने अपनी आँखों से कभी फांसी नहीं देखी। फाँसी की सजा पाने वाले अपराधी फाँसी के वक्त क्या सोचते हैं, कौन जाने ! वे फांसी के समय कैसे-कैसे हास्यास्पद अनुरोध किया करते हैं। कहते हैं फांसी की सजा पाये एक मुजरिम ने फांसी होने के पहले दिन फूलों की एक माला, मलमल के एक कुरते और एक शीशी इत्र की फरमाइश की थी।

लेकिन सुप्रिय और अधिक अब कुछ सोच नहीं पा रहा था। उसका सिर पत्थर की तरह भारी हो गया था। फाँसी का फैसला सुनाते हुए सुप्रिय ने कानून के मुताबिक दोनों आँखें बन्द कर ली थीं और उसके बाद दवात-कलम वहाँ से हटा ली गई थी। किन्तु एस्प्रिन की तीन गोलियां खा लेने के बावजूद भी उसे राहत नहीं मिली। शाम के वक्त सुप्रिय और घर में नहीं रह सका था। वह अकेला ही चाय पीकर घूमने निकल

गया था। नदी के किनारे एकान्त मे जो हल्का होना स्वाभाविक था। लेकिन वहाँ भी वंशी का भय से पीला पड़ा कातर मुखड़ा उसे याद आ-जा रहा था। उसकी दोनों स्थिर आँखें, उफ्… उस वक्त अँधेरे के दृश्यपट पर मानो वंशी की हजारों मुख-मुद्राएँ उभर कर अट्टहास करने लगी थी।

पिछली रात रात-भर जाग कर सुप्रिय ने मुकदमे का फैसला लिखा था। उसके बाद आज वंशी का आर्त्तनाद और आँखो से बहती हुई आँसू की धारा! ठीक उसके बाद से ही सुप्रिय के सिर में भयावह दर्द शुरू हो गया था।

लेकिन न्याय-विचार मे अगर कोई भूल रह गई हो, तो? दण्ड-विधान के सूक्ष्म विचार मे अगर कोई गलती रह गई हो, तो? हो सकता है कि पुलिस ने झूठी गवाही दिलवाई हो! सो ऐसा होना तो नही चाहिए। फिर भी हो सकता है कि खून करने की वंशी की मंशा नही रही हो। सिर्फ प्रतिहिंसा के वशीभूत होकर वंशी उत्तेजित हो उठा हो और उसने लक्ष्मण पर घातक वार कर दिया हो! इस सूक्ष्म मुद्दे पर ही वंशी की जिन्दगी या मौत निर्भर थी।

जेब से सिगरेट-केस बाहर निकाल कर सुप्रिय ने एक सिगरेट सुलगा ली थी।

सुप्रिय ने जीवन मे पहली दफा फाँसी का यह फैसला सुनाया था। नौकरी में तरक्की पाने के बाद यह पहला मामला था। आज प्रमिला के साथ स्वाभाविक रूप से सुप्रिय बातें भी नही कर पाया था। कही वंशी की बहू बसन्ती शायद खूब ही रो रही होगी। बसन्ती भी गवाही देने के लिए अदालत मे आई थी। कठघरे मे वंशी की तरफ देखकर वह गला फाड़कर रोने लगी थी।

जिरह के दौरान बसन्ती ने कहा था—हुजूर, सारा कसूर मेरा है। मेरे कारण ही उन दोनों मे झगड़ा शुरू हुआ था। आप मुझे ही जेल में ठूँस दीजिए, हुजूर।

सिगरेट का शेष अंश जमीन पर फेंककर उसे सुप्रिय ने अपने जूते से कुचल डाला। उसके बाद वह अपने घर की तरफ लौट पड़ा था।

इस ओर का अंचल नितान्त निर्जन था। दोनों ओर बड़े-बड़े शीशम के पेड थे। और बीच में थी अँधेरी राह। उस सुनसान राह पर चलते-चलते सुप्रिय को ऐसा प्रतीत हुआ, मानो कोई चुपचाप उसका पीछा कर रहा हो! वैसे अभी तक वंशी को फाँसी नही दी गई है। अब भी वंशी को फाँसी दिये जाने तक सूरज की बहुत-सी रोशनी इस पृथ्वी के ऊपर पड़ेगी। काफी हवा अब भी अपनी सांस के साथ वंशी ग्रहण करेगा। वंशी वंशीदास…।

कुछ दूर के बाद ही रास्ता बाजार की तरफ घूम गया था। उधर था वकील-टोला। भवतोष बाबू वंशीदास की तरफ से वकील थे। लेकिन सबूत और साक्ष्य कुछ ऐसे थे कि वंशीदास को बचाया नही जा सका। और फिर सुप्रिय की क्षमता भी भला कितनी थी?

सुप्रिय को इस मुकदमे के गवाह भूषण गाजी की बातें याद आने लगी। उसने पूरी घटना देखी थी। वंशीदास ने तीन बार लक्ष्मण के सीने पर छुरे से वार किया था। उसके बाद घर लौटकर हठात् वंशी को न जाने क्या हो गया। कपड़े बदल कर वह फिर

बाहर निकलने लगा।

वसन्ती ने कहा था—मैंने भात परोस दिया है। खाकर ही जाओ···।

—रुको, मैं अभी आता हूँ, कहकर वंशी फिर यहाँ आया था। यहीं, नदी के किनारे शीशम के जंगल की राह पर। उसके बाद मृत लक्ष्मण की लाश को लेकर···।

—नमस्कार!

हठात् सुप्रिय चौंक उठा था। उसके सामने भवतोष बाबू खड़े थे। सुप्रिय ने भी उन्हें दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार किया।

भवतोष बाबू ने सुप्रिय से कहा—सर, आपसे एक जरूरी बात करनी थी।

सुप्रिय ने कौतूहलभरी दृष्टि से भवतोष बाबू की तरफ देखा। शायद भवतोष बाबू वंशीदास के बारे में ही बातें करना चाह रहे होंगे। वंशीदास के साथ जेल में मुलाकात करने के लिए उसकी बहू ने एक अर्जी दी थी। सो सुप्रिय क्या करता! वंशीदास था जेल में पुलिस की हिफाजत में। इस वक्त पुलिस की नजरों में उसकी जिन्दगी बहुत कीमती थी। वंशीदास की जिन्दगी के लिए पर्याप्त देख-रेख और सावधानी बरती जायेगी। जब वह स्वाधीन था, उस समय वह खा पाता था या भूखों मर रहा था, यह देखने की फिक्र किसी को भी न थी। किन्तु इस समय वह मुजरिम था। मुजरिम भी ऐसा-वैसा नहीं, खून का मुजरिम! उसकी जिन्दगी के प्रति पुलिस कोई भी लापरवाही बरतने का खतरा मोल नहीं ले सकती।

सुप्रिय ने भवतोष बाबू से कहा—कहिए न, क्या कहना चाहते हैं?

भवतोष बाबू ने कहा—यहाँ की राशन-दुकान में जो कपड़ा आया है सर, वह पहनने लायक कतई नहीं। भीतर-ही-भीतर बढ़िया कपड़ा ब्लैक मार्केट में बेच दिया जाता है। मैंने ऐसा सुना है सर···।

और भी कुछेक बेकार की बातें कहने के बाद भवतोष बाबू चले गये। सुप्रिय को बहुत ताज्जुब हुआ। आज उनके मुवक्किल को फांसी की सजा सुनाई गई थी और आज ही निश्चिन्त मन से भवतोष बाबू राशन-दुकान में मिलने वाले कपड़े के बारे में सिर खपा रहे थे। सुप्रिय ने सोचा कि वह एक बार पुकार कर भवतोष बाबू को बुलाये। वे एक सुयोग्य वकील माने जाते हैं। सुप्रिय ने अपील करने के लिए पन्द्रह दिनों का वक्त दिया था। एक बार अपील करने की बात उन्हें याद दिला देने पर अच्छा होता! लेकिन भवतोष बाबू तब तक काफी दूर जा चुके थे।

घर लौटने के बाद सुप्रिय अपने-आपको बेहद कमजोर महसूस करने लगा। तन से भी और मन से भी···।

प्रमिला ने सुप्रिय के सिर पर हाथ रखकर कहा—यह क्या? आपका तो बदन तप रहा है। आपको कहीं बुखार तो नहीं हो गया!

इस वक्त आधी रात को हठात् सुप्रिय की नींद उचट गई थी। वंशीदास के बारे में सोचते-सोचते वह परेशान हो उठा। बड़ी मुश्किल के बाद फिर उसे नींद आई।

उसके बाद सुबह तक ज्वर काफी बढ़ चुका था। एक सौ तीन डिग्री···। सिर में असहनीय पीड़ा हो रही थी। दर्द के मारे सिर फटा जा रहा था।

प्रमिला ने धीरे से कहा—परसों रात मे रात-भर जागने के कारण ही आपकी यह हालत हुई है।

रात मे जागने के कारण ज्वर नही हुआ था, सुप्रिय इस बात से भलीभाँति वाकिफ था। फिर भी उसे ऐसा लगा कि उसकी तबीयत आसानी से ठीक नहीं होगी। उसी दिन सुप्रिय ने लम्बी छुट्टी के लिए दरख्वास्त भेज दी।

तीन महीनों की लम्बी छुट्टी ! छुट्टियों मे कलकत्ता आकर सुप्रिय ने काफी दिनों तक विश्राम किया। ज्वर से अब उसे छुटकारा मिल चुका था। यहाँ आने पर पुराने दोस्तो के साथ उसकी मुलाकात हुई। यहाँ पढ़ने को बहुत-सारी किताबें मिली। फिर भी मन मे डर बैठा हुआ था। छुट्टियाँ खत्म होने पर फिर लौट जाना होगा। फिर वही शीशम का जंगल, वही भवतोप बाबू और अदालत !

वंशीदास ने हाई कोर्ट मे अपील की थी।

यह खबर सुनकर सुप्रिय के मन मे बड़ी शान्ति हुई थी।

प्रमिला गाडी लेकर इधर-उधर निकल जाती। बहुत से लोगो के साथ उसे भेंट करनी थी। सुप्रिय को नौकरी मे तरक्की मिली थी, सम्भवतः इस संवाद के प्रचार का लोभ भी था मन मे।

सुप्रिय सिनेमा का आखिरी शो देखने के लिए हॉल मे बैठा हुआ था। कब पिक्चर शुरू हुई और कब खत्म हो गई, इसका कुछ पता नही चला सुप्रिय को। ट्राम-बस बन्द हो चुकी थी। हाँ, टैक्सी जरूर की जा सकती थी। लेकिन गरमी की रात थी। फिर बहुत दिनो के बाद अंधेरी राह पर पैदल चलने के लिए सुप्रिय का जी मचलने लगा।

चौरंगी से ही सुप्रिय पैदल चल पडा। रास्ता बड़ा निर्जन था। हठात् काफी दूर तक चले आने के बाद सुप्रिय को ऐसा प्रतीत हुआ मानो कोई चुपचाप दबे पाँव उसका पीछा कर रहा था ! सुप्रिय को उस दिन की याद आ गई, जिस दिन उसने अदालत मे वंशी के मुकदमे का फैसला सुनाया था। उस दिन भी शाम को शीशम के पेड़ों से घिरे निर्जन रास्ते पर चलते हुए सुप्रिय को ऐसा ही एहसास हुआ था। वंशीदास···। वंशीदास का नाम याद आते ही सुप्रिय सिहर उठा। लेकिन वह तो इस समय पुलिस की हिफाजत मे है। अब भी वंशीदास के अमूल्य जीवन की पहरेदारी पुलिस के प्रहरी कर रहे हैं। वंशीदास तो अभी तक जिन्दा है। उसने हाई कोर्ट मे अपील की है। पूजा की छुट्टी के बाद ही हाई कोर्ट खुल जायेगा और अदालत मे वंशी की अपील की सुनवाई शुरू हो जायेगी।

कौन जाने ! हो सकता है कि वंशी के साथ बेइन्साफी हुई हो। हो सकता है कि वंशी के मामले मे भारतीय दण्ड-विधान की धारा 302 का उपयोग करना उचित नही रहा हो।

पैदल चलते-चलते सुप्रिय भवानीपुर तक आ पहुँचा। तब तक काफी रात हो

चुकी थी। पान की दो-एक दुकानें उस समय भी खुली थीं। अब एक टैक्सी कर लेना ही ठीक होगा।

हठात् सुप्रिय ने एक दृश्य देखा। निर्जन रास्ते के ऊपर धीमी गति से साइकिल चलाते हुए एक पुलिस-सार्जेंट जा रहा था। और उसके पीछे-पीछे एक कांस्टेबल एक छोटा-सा झोला लटकाये चल रहा था। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो झोले में कोई भारी चीज थी।

साइकिल पर सवार पुलिस-सार्जेण्ट चौकन्नी निगाहों से इधर-उधर देख रहा था।

हठात् साइकिल की गति रुक गई। फुटपाथ के एक किनारे एक कुत्ता भूँ-भूँ करता हुआ सामने की तरफ बढ़ा।

सार्जेण्ट का इशारा पाते ही पीछे आ रहे कांस्टेबल ने अपने झोले से कोई चीज निकालकर कुत्ते की तरफ फेंकी। कुत्ते ने दौड़कर क्षण भर में ही वह चीज मुँह में रख ली। ऐसा लगा कि वह कोई लोभनीय स्वादिष्ट खाद्य-सामग्री थी। किन्तु साथ-ही-साथ विकट चीत्कार करते हुए वह कुत्ता चरखी की तरह घूमने लगा। उसके कुछ क्षणों के बाद फिर वह कुत्ता वहीं ढेर हो गया। कुछ क्षणों तक सुप्रिय गौर से उस कुत्ते की तरफ देखता रहा।

सार्जेण्ट का इशारा पाकर वह कांस्टेबल सुप्रिय के पास आया। उसने सुप्रिय से कहा—बाबू जी, उस तरफ कुछ भी नहीं देखिए। आप चुपचाप यहाँ से चले जाइए।

सुप्रिय को यह समझते देर नहीं लगी कि विषैली चीज खिलाकर पुलिस द्वारा लावारिस कुत्तों को मारा जा रहा था।

सुप्रिय के सिर में फिर भयानक दर्द शुरू हो गया। कुछ दूर जाने पर सुप्रिय को फिर किसी कुत्ते का विकट चीत्कार सुनाई पड़ा। लेकिन दूसरे ही क्षण पूर्ण निस्तब्धता छा गई। तो क्या सारी रात इसी तरह निर्दोष कुत्तों को मारे जाने का क्रम शहर में जारी रहेगा?

और वह रुक नहीं सका। सामने से एक टैक्सी आ रही थी। सुप्रिय ने टैक्सी रुकवाई और वह उसमें सवार हो गया।

घर पहुँचने पर प्रमिला ने उसके माथे पर हाथ रखकर कहा—यह क्या, फिर आपको ज्वर हो गया है! रात में पैदल चलने के कारण ही आपकी तबीयत खराब हुई है। पैदल चलने का आपका यह अजीब शौक है। घर में गाड़ी है, लेकिन आप पैदल चलना ही पसन्द करेंगे।

रास्ते में पैदल चलने पर ज्वर नहीं हुआ था, यह बात सुप्रिय भली-भाँति जानता था। फिर भी उसे ऐसा लगा कि उसकी तबीयत आसानी से ठीक नहीं होगी। और इधर छुट्टियाँ भी शेष होने को थीं। फिर वही अदालत, फिर वही शीशम का जंगल, फिर वही भवतोष बाबू, फिर वही वंशीदास, फिर वसन्ती और फिर मृत लक्ष्मण की आत्मा'''।

तीन महीने की छुट्टियाँ देखते-ही-देखते शेष हो गईं।

अब सुप्रिय को लौटना ही होगा। सारी चीजें जुटाई जा रही थी। परदेश में बहुत-सी चीजें पैसे रहने पर भी नहीं मिलतीं। टूथपेस्ट से शुरू करके तौलिए, गमछे, पैर पोंछने, झाड़न—सभी घर-संसार में उपयोग लाई जाने वाली चीजें खरीद लेनी थी।

उसके बाद थी प्रमिला की चीजें—साड़ी, ब्लाऊज और जेवर···। साथ ही सुप्रिय के लिए सूट, छाता, जूते, फ्लास्क आदि।

प्रमिला ने अपनी चीजें खुद अपनी सुविधा के अनुसार खरीद ली थी। बाकी चीजें खरीदने के लिए खुद सुप्रिय को जाना पड़ा। सुबह घर से निकल कर दुकान-दुकान में उसे घूमना पड़ा। अब बहुत दिनों के लिए जाना पड रहा है। हो सकता है कि साल-भर के बाद ही फिर कलकत्ता आने का मौका मिले।

चीज-वस्त खरीद कर जब सुप्रिय घर लौटा, तब काफी देर हो चुकी थी। नौकर सारी चीजें गाड़ी से उतारकर घर के भीतर ले आया।

प्रमिला ने पूछा—यह क्या? यह लम्बी-सी डोरी क्यों खरीदी है आपने?

—डोरी?

सुप्रिय खुद भी हैरान रह गया। डोरी खरीदने की तो कोई बात नहीं थी। डोरी उसने कब खरीद डाली? सफेद सूते की पतली डोरी, चार-पांच गज लम्बी! सुप्रिय चौंक उठा। यह डोरी आखिर उसने क्योंकर खरीदी?

प्रमिला ने व्यंग्य से पूछा—आप डोरी खरीद कर लाये हैं। गले में डोरी डाल कर फाँसी लगाने का इरादा है क्या?

बात ठीक ही थी। सुप्रिय का दिमाग मानो गोलमाल हो गया था। चक-चक सफेद डोरी मानो एक नागिन की तरह सुप्रिय की तरफ देख रही थी। फिर उसके सिर में दर्द शुरू हो गया। शायद फिर ज्वर का आक्रमण होकर ही रहेगा।

खाना-पीना शेष करने के बाद सुप्रिय ईजी-चेयर पर बैठ गया। हठात् सुप्रिय को वंशीदास की याद आ गई। उसने सोचा कि बहुधा ऐसा भी होता है कि फाँसी की सजा पाये अपराधी फाँसी होने के पहले ही आत्महत्या कर लेते हैं।

सो वसन्ती भी तो वंशी को बचा सकती है। जेल में वंशी से मुलाकात करते वक्त वह सबों से छिपाकर वंशी को जहर लाकर दे सकती है। जैसे पुलिस के लोग विष देकर कुत्तों को मारा करते हैं, उसी तरह वह भी वंशी का जीवन शेष कर सकती है। उसके बाद फिर उसे फाँसी की डोरी का स्पर्श नहीं करना होगा। वंशी को मुक्ति मिल जायेगी। फाँसी की डोरी के अपमान से वह छुटकारा पा लेगा। और सुप्रिय? क्या खुद सुप्रिय भी इस मर्मान्तिक मानसिक यन्त्रणा से मुक्ति पा सकेगा??

छुट्टियाँ शेष हो चुकी थी। रात की ट्रेन से सुप्रिय को प्रस्थान करना होगा। फिर वही अदालत, फिर वही शीशम का जंगल और फिर वही भवतोष बाबू···।

प्रमिला अपने आत्मीय-स्वजनों से मिलने के लिए उनके घर गई थी।

सुप्रिय ईजी-चेयर पर बैठा अखबार पढ़ रहा था। अखबार पढ़ते-पढ़ते हठात् एक खबर पर सुप्रिय की नजर अटक गई।

वंशीदास के मुकदमे की अपील का फैसला सुनाया गया था। सुप्रिय का सारा शरीर रोमांचित हो उठा। पूजा की छुट्टियों के बाद कोर्ट के खुलते ही वंशीदास की अपील की सुनवाई शुरू हो गई थी। आज उसका यवनिकापात हुआ था। हाईकोर्ट ने वंशी की फांसी की सजा कायम रखी थी। सुप्रिय ने मुक्ति का निःश्वास निस्सारित किया। हठात् उसे ऐसा लगा कि बहुत दिनों के पश्चात् वह रोगमुक्त हो पाया था। खिड़की से आती हुई धूप फर्श पर पड़ रही थी। सुप्रिय को ऐसा प्रतीत हुआ मानो वह धूप विधाता के आशीर्वाद-सी महिमामयी थी।

ईजी-चेयर पर बैठे सुप्रिय ने मन-ही-मन सोचा—तो मैंने वंशी के प्रति अविचार नहीं किया था। कानून की मेरी पढ़ाई आखिरकार सार्थक सिद्ध हुई। मैंने जो फैसला दिया था, वह सही था।

कुछ ही देर बाद प्रमिला लौटकर चली आई। प्रमिला को देखते ही सुप्रिय ने उमंग में भरकर कहा—हैलो प्रमिला, तुमने बहुत देर लगा दी…।

पास के बरामदे में सुप्रिय का नौकर माल-असबाब सजाकर रख रहा था। सुप्रिय बरामदे में चला आया। उस दिन की खरीदी हुई डोरी से नौकर बिस्तर को बांध रहा था। सुप्रिय अनजाने ही डोरी खरीदकर लाया था। लेकिन नौकर ने उस डोरी को उपयोग में लगा लिया।

कहानी एक मन्दिर की

देखते-ही-देखते यह खबर चारो तरफ फैल गई।

इस तरह की विचित्र घटना पहले कभी भी किसी ने सुनी नही थी। जो भी सुनता वही हैरान रह जाता। सभी झुण्ड बनाकर हमारे गाँव मे आने लगे।

हमारे गाँव का नाम था मयनाडाँगा। मयनाडाँगा—एक खूब ही छोटा-सा गाँव। ब्राह्मणों और कायस्थों को मिलाकर करीब आठ सौ लोगों की बस्ती थी वह। अधिकतर लोग गरीब थे। उनमें से ऐसे लोग कम ही थे, जिन्हें दोनों जून रोटी नसीब होती थी। ब्राह्मणों और कायस्थों के अलावा बाकी सभी पिछड़ी जाति के लोग थे। उन्हें और कोई भी दुःख नही था। अगर कोई दुःख था तो यही कि बेचारे दोनो वक्त की रोटी भी नही जुटा पाते थे।

एक दिन मुझे मेरे मामा जी ने बम्बई से एक चिट्ठी लिखी। उन्होंने चिट्ठी मे लिखा था—सुना है कि तुम्हारे गाँव की कुम्हारटोली में एक जाग्रत देवी का प्रादुर्भाव हुआ है। यह भी सुना गया है कि वह देवी सबों की मनोकामना पूरी करती है।

मैंने मामा जी की चिट्ठी के जवाब में लिखा—हाँ, मैंने भी ऐसा ही सुना है। इस समय दूर-दूर से लोग हजारो की तादाद में मयनाडाँगा गाँव मे आ रहे हैं और कुम्हारटोली के मन्दिर में परसाद चढ़ा रहे हैं। हम लोगों में से कोई भी अभी तक उस मन्दिर में नही गया है। लेकिन आपको कुम्हारटोली के मन्दिर के बारे मे कहाँ से जानकारी मिली? इस मन्दिर की खबर अखबारो में भी छप चुकी है क्या?

सचमुच यह एक बड़ी ही अजीब बात थी। कुम्हारटोली के मन्दिर की देवी के बारे मे हम लोग कई दिनों से सुन रहे थे। लेकिन यह खबर बम्बई तक पहुँच गई थी, इसका हमें आभास तक न था। और फिर शुरू-शुरू में हमने इसे धोखाधड़ी के सिवाय और कुछ समझा भी नही था। क्योंकि इस तरह की बहुत-सी विचित्र घटनाएँ पहले भी सुनी गई थी लेकिन कुछ ही दिनों के बाद वे घटनाएँ निरी अफवाहें साबित हुई थी।

मयनाडाँगा गाँव के एक किनारे पर एक विशाल बरगद का पेड़ बहुत दिनो से

ही था। उस पेड़ के नीचे ही एक टूटा हुआ मन्दिर था। उस मन्दिर के पीछे ही थी कुम्हारों की वस्ती—कुम्हारटोली। वहाँ वे कुम्हार कई पीढ़ियों से निवास कर रहे थे। वे नदी से चिकनी मिट्टी निकालकर लाते और उससे हँडिया, कलशी, घड़े, तश्तरी, सुराही और खिलौने आदि तैयार करते।

वे कुम्हार वेहद गरीव थे। अधिकांश दिन ऐसे वीतते, जवकि उन्हें एक वक्त का खाना खाकर ही संतोष करना पड़ता।

प्रत्येक इतवार को शहर में हाट लगती। हाट के दिन वे सभी वैल-गाड़ी या ठेला-गाड़ी में अपने मिट्टी के वर्तन लाद कर हाट में जाते। हाट में मिट्टी के वर्तनों की विक्री वुरी नहीं होती थी। जो भी विक्री होती, उन पैसों से उनका हफ्ते-भर का खर्च मजे में निकल आता।

परन्तु धीरे-धीरे उनकी जनसंख्या वढ़ती गई और दूसरी तरफ उनकी आमदनी कम होती गई। और फिर मिट्टी के वर्तनों की मांग भी पहले की तरह नहीं रही। मिट्टी के वर्तनों के वदले वाजार तरह-तरह के सुन्दर धातुओं के वर्तनों से भर गया। पीतल, कांसे और तांवे के वर्तन तो पहले भी वाजार में विकते थे। पर उनके कारण कुम्हारों के वनाये गये मिट्टी के वर्तनों की विक्री पर खास असर नहीं पड़ा था। लेकिन अव वाजार में अल्युमिनियम के वर्तन आ गये थे। अल्युमिनियम के वर्तन टूटते नहीं थे, देखने में चमकदार थे और थे धोने-मांजने में सहज। मिट्टी की हँडिया में वहुत-से झमेले थे। ठीक से उसे घिसकर मांजा नहीं जा सकता। जरा-सी गफलत होने पर ही टूट जाने का डर'''।

अल्युमिनियम के वर्तनों ने शहरों में ही नहीं, छोटे-छोटे गाँवों में भी अपनी धाक जमा ली। गाँवों के लोग मिट्टी के वर्तनों के वदले अल्युमिनियम के वर्तन खरीदने लगे। अल्युमिनियम के वर्तन खरीदने में शुरू में कुछ ज्यादा कीमत जरूर देनी पड़ती थी, परंतु आखिरकार उनके टिकाऊ होने के कारण एक तरह से वे सस्ते ही पड़ते थे। वार-वार नयी कलशी और हँड़िया-सुराही खरीदने की अव जरूरत नहीं रही।

और उसके वाद आये स्टील के वर्तन। स्टील यानी स्टेनलेस स्टील। ये वर्तन पुराने कपड़ों के वदले में मिलने लगे।

फिर तो कुम्हारों की वस्ती में कुहराम ही मच गया।

जगाइ दास एक वूढ़ा कुम्हार था। एक दिन उसके साथ मेरी मुलाकात हुई। मुझे देखकर जगाइ दास ने रुआँसी आवाज में कहा—आप लोग तो अव हमारी कुम्हार-टोली में आते ही नहीं हैं छोटे वावू।

मैंने कहा—अव कुम्हारटोली में जाने की जरूरत ही नहीं पड़ती जगाइ।

—क्यों? आप लोग भी शायद अव स्टील के वर्तन खरीदने लग गये हैं?

मुझे कहना ही पड़ा—हाँ, जगाइ।

जगाइ दास ने कहा—तो फिर हम लोग कहाँ जायेंगे छोटे वावू? क्या अ यही कहना चाहते हैं कि हम लोग विना खाये-पीये तड़प-तड़प कर मर जायें?

इस वात का मैं भला क्या जवाव देता।

जगाइ दास का दुखड़ा मैं समझ पा रहा था। जमाने के साथ कदम मिलाक

नहीं चलने पर यही नतीजा होता है. यह बात मैंने जान-बूझकर ही जगाद दास से नहीं कही। मैं खामख्वाह उसका दुःख और बढ़ाना नहीं चाहता था।

उसके बाद कुम्हारटोली के लोग भूखे-प्यासे रहकर या कभी-कभी साग-पात खाकर किसी तरह दिन गुजारने लगे।

इसी तरह समय बीतता गया—माह दर माह, साल दर साल।

इसी समय एक विचित्र घटना घटी।

हठात् एक दिन एक हैरतअंगेज बात सुनी गई। बात यह कि कुम्हारटोली के मन्दिर की मूर्ति बोलने लगी है। उस मन्दिर में किस देवी की मूर्ति थी, यह अब तक कोई भी नहीं जानता था। किस देवी की मूर्ति थी वह? लक्ष्मी की, सरस्वती की, शीतला माई की या फिर मनसा माँ की? इस सवाल का जवाब किसी के पास भी न था। इस बात को लेकर किसी ने सिरदर्द मोल लिया भी नहीं।

बहुत साल पहले इस मयनाडांगा में मुखर्जी परिवार के किसी पूर्व-पुरुष की जमींदारी थी। वे बड़े ही प्रतापी जमींदार थे और उन्होंने ही इस मन्दिर की प्रतिष्ठा कराई थी। इस मन्दिर में देवी की प्रतिमा उन्होंने ही स्थापित कराई थी।

उसके बाद जमींदारी चली गई। तत्कालीन सरकार ने उस मन्दिर का जीर्णोद्धार नहीं कराया। मुखर्जी महाशय के वंशधरों ने भी मन्दिर की मरम्मत आदि कराने की कभी जरूरत महसूस नहीं की। फिर आया देश-विभाजन। देश-विभाजन के बाद उस इलाके में लोगों का आना-जाना और भी कम हो गया। धीरे-धीरे मुखर्जी-परिवार की माली हालत भी बिगड़ती गई। और उधर कुम्हारटोली में कुम्हारों की ही बस्ती थी। मिट्टी के बर्तन जब तक लोग खरीदा करते थे, तब तक लोग कुम्हारटोली में जाया करते थे। और फिर कुम्हारटोली के कुम्हार भी अपने बर्तन बेचने के लिए और अपनी जरूरतों की चीजें खरीदने के लिए हाट में जाया करते थे। किन्तु धीरे-धीरे लोगों का आवागमन करीब-करीब बन्द हो जाने की वजह से वह अंचल क्रमशः जंगली झाड़ियों से भर गया। वह मन्दिर वर्षों तक इसी तरह देख-भाल के अभाव में उपेक्षित पड़ा हुआ था।

और उसके बाद ही यह काण्ड हो गया।

यही कि कुम्हारटोली के मन्दिर की प्रतिमा बोलने लगी है। बिलकुल आदमियों की तरह ही'''!

सबों ने कहा—सुनते हो भैया? कुम्हारटोली के मन्दिर की देवी माँ बातें करती है। बिलकुल हमारी-तुम्हारी तरह'''।

मैंने हैरान होकर पूछा—यह क्या कह रहे हो?

—हाँ भाई, हाँ। देवी माँ बिलकुल आदमियों की तरह बोलती है।

मैंने पूछा—देवी माँ ने क्या कहा, यह तो बताओ!

—देवी माँ ने कहा है कि मुझे बहुत जोरों की भूख लगी है। तुम लोग मुझे कुछ खाने के लिए क्यों नहीं देते?

—उसके बाद?

कुम्हारटोली के तारापद ने कहा—हम लोगों ने देवी माँ से पूछा—तुम क्या

खाओगी देवी माँ? माँ ने हम लोगों से कहा—तुम लोग मुझे जो कुछ भी खुशी से दोगे, वही खा लूंगी।

—उसके वाद ?

तारापद ने कहा—उसके वाद हम लोगों ने देवी माँ के सामने भात-दाल की थाली रख दी। माँ ने उसे ही खा लिया।

मैंने पूछा—देवी माँ ने किस तरह खाया ? क्या अपने हाथों से ?

तारापद ने कहा—भला और कैसे खायेगी ? हम लोगों ने भात-दाल की थाली माँ के मन्दिर में रख दी और मन्दिर के दरवाजे पर ताला लगाकर हम लोग चले आये। उसके वाद शाम को जव हम ताला खोलकर मन्दिर के भीतर घुसे, तव हमने देखा कि थाली खाली थी। देवी माँ भात-दाल चट कर चुकी थी।

सचमुच ही यह घटना वड़ी अनोखी थी।

कुम्हारटोली के मन्दिर की चर्चा शुरू-शुरू में मयनाडांगा ग्राम में ही सीमित थी। लेकिन धीरे-धीरे यह खवर पूरे जिले में फैल गई। पूरे जिले में ही नहीं, वल्कि पूरे प्रान्त में और पूरे देश में। हर जगह से हजार-हजार लोग तीर्थयात्रियों की भाँति कुम्हार-टोली के मन्दिर की देवी की पूजा करने के लिए आने लगे। कोई परसाद चढ़ाता था; कोई रुपये-पैसे तो कोई साड़ी और जेवर। या फिर कोई-कोई श्रद्धालु भक्त सोने की नथ भी चढ़ाया करते थे।

कुम्हारटोली में भारी भीड़ जुटने लगी। रेलवे स्टेशन उस जगह से पाँच कोस की दूरी पर था। कलकत्ते से भी वहुत-से लोग झुण्ड वनाकर आने लगे और उस स्टेशन पर उतरकर वैल-गाड़ी में वैठकर कुम्हारटोली आने लगे। वे मन्दिर में आकर पूजा करने लगे। वे लोग दिन भर कुम्हारटोली में ही रहते। उनके रहने-खाने के लिए कुम्हारटोली के लोगों ने वहुत-सी झोपड़ियाँ वना दी थीं। सिर्फ यही नहीं, यात्रियों की सुविधा के लिए कुम्हारटोली के निवासियों ने हर प्रकार का इन्तजाम कर दिया था।

आखिरकार यात्रियों की भीड़ इतनी वढ़ने लगी कि यह इन्तजाम कम पड़ने लगा। नतीजा यह हुआ कि फिर तो कुम्हारटोली के वेकार लड़कों ने छोटे-छोटे होटल वनवा लिये। पानी के लिए ट्यूव-वेल लगाये गये। उसमें शुरू में तो कुछ खर्च हुआ, लेकिन वाद में उन्हें वेशुमार मुनाफा होने लगा। उस मुहल्ले के लड़के-लड़कियों के वदन पर फिर तो नये-नये कपड़े नजर आने लगे। झोपड़ियों को तोड़कर छोटे-छोटे पक्के घर वनाये गये और उन पर टीन की छत लगाई गई। और इस तरह आँधी-वर्षा में भी कोई डर नहीं रहा। आग लगने पर घर के जलकर राख हो जाने की आशंका भी खत्म हो गई।

सच पूछिए तो कुम्हारटोली के साथ-साथ मयनाडांगा की माली हालत भी सुधरने लगी। गांव के लोगों को दो जून खाना नसीव होने लगा। इतने दिनों की दुरावस्था धीरे-धीरे दूर होने लगी।

और क्या सिर्फ यही ?

कितने ही लोगों ने कुम्हारटोली में जमीन खरीद ली और वे मकान वनवाकर

वहाँ निवास करने लगे। सारा इलाका फिर से गुलजार हो उठा। या फिर यों कहें कि माँ लक्ष्मी जो उस गाँव से रूठकर चली गई थी, वह फिर से गाँव में लौट आई।

कुम्हारटोली में दुकानें-ही-दुकानें खुल गई। तीर्थयात्रियों की सुविधा के लिए वहाँ सारा इन्तजाम किया गया। कहीं दाल-भात, मछली-सब्जी की दुकान खुली, कहीं पकौड़ी-बैंगनी-आलूचाप की, कहीं मुढ़ी-घुघनी की तो कहीं जलेबी-कचौड़ी की। तीर्थयात्रियों के नहाने-धोने के लिए वहाँ एक पुराने पोखरे का जीर्णोद्धार किया गया और उसके घाट ईंट-सीमेंट से पक्के बना दिये गये।

यही नहीं, छुट्टियों में पिकनिक-स्पाट के रूप में भी वह जगह खूब पसन्द की जाने लगी।

इस खबर के फैलते ही दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता से समाचार-पत्रों के ढेरों रिपोर्टर मयनाडाँगा में आ पहुँचे। उन्होंने मन्दिर की और मन्दिर की देवी की ढेरों तस्वीरें भी उतारी। उन्होंने तीर्थयात्रियों के इन्टरव्यू भी लिये। साथ ही उन्होंने देवी के मन्दिर में जाकर परसाद भी चढ़ाया।

कुल मिलाकर यह समझिए कि मामूली-सा ग्राम मयनाडाँगा और उससे भी मामूली कुम्हारटोली का नाम रातोरात विख्यात हो गया। देश भर के लोगों की जुबान पर कुम्हारटोली के मन्दिर का नाम था।

लोगों के बीच देवी के द्वारा परसाद खा लेने की घटना का ही प्रचार नहीं हुआ, बल्कि देवी की चमत्कारिक शक्ति की बात भी फैल गई।

किसी को सन्तान नहीं थी। देवी का चरणामृत पीने पर उसे सन्तान की प्राप्ति हुई। किसी महिला के पतिदेव घर छोड़कर कहीं गायब हो गये थे। देवी माँ का सिन्दूर माथे पर लगाने के बाद कुछेक महीनों के भीतर ही उसके पतिदेव महोदय घर लौट आये।

इस तरह की बहुतेरी घटनाएँ सुनी जाने लगी।

एक युवक बेरोजगार था। बहुत कोशिशें करने के बाद भी उसे नौकरी नहीं मिली। कितनी ही सिफारिशें जुटाई गईं और कितने ही लोगों के पैरों पर पड़ना पड़ा। लेकिन सब बेकार ''। आखिरकार कुम्हारटोली के मन्दिर में पूजा करने के बाद उसे एक बढ़िया सरकारी नौकरी मिल गई।

एक आदमी की लड़की की शादी किसी भी तरह हो नहीं पा रही थी। कारण यह था कि लड़की का रंग बिलकुल काला था। उधर लड़की की उम्र दिनोंदिन बढ़ती जा रही थी। आखिरकार उस लड़की की उम्र की हरेक लड़की की शादी हो गई, लेकिन वह कुँवारी-की-कुँवारी बैठी रही। आखिर एक दिन उस लड़की के पिता ने कुम्हारटोली की देवी को परसाद चढ़ाया। और उसके बाद ही हठात् एक सुयोग्य लड़के के साथ उस लड़की की शादी हो गई।

इस तरह की घटनाओं की चर्चा से पूरा माहौल गर्म था। लेकिन मैंने इन्हें तनिक भी महत्त्व नहीं दिया। मैंने इन घटनाओं को सरासर अफवाह ही माना। मेरे तार्किक मन ने इन कहानियों को सच मानने से इनकार कर दिया था।

इसी बीच मामाजी का एक पत्र मुझे मिला। उन्होंने लिखा था—मैं शीघ्र ही।

तुम लोगों के मयनाडांगा गाँव में आ रहा हूँ। मैं अपनी आँखों से जब सब कुछ देख लूंगा, तभी इन वातों पर विश्वास करूँगा।

कुछ ही दिनों के वाद हठात् जगाइ दास के साथ रास्ते में मुलाकात हो गई।

पहले-पहल तो मैं जगाइ दास को पहचान ही नहीं पाया। जगाइ दास को देखकर मैं हैरान रह गया। पहले उसका शरीर था दुवला-पतला। इस समय वह वेहद मोटा हो गया था। उसे देखकर ऐसा लगा कि उसके मुसीवत के दिन मानो वीत गये थे और खुशी के दिन लौट आये थे। मैंने देखा कि जगाइ दास के वदन पर फटी गजी के वजाय टैरिलीन की शर्ट थी।

मैंने ही जगाइ दास को पुकारा और उससे कहा—कहाँ जा रहे हो जगाइ ?

पहले भेंट होने पर जगाइ दास मेरे साथ काफी देर तक वातें किया करता था। वह मुझे 'छोटे वावू' कहा करता और वड़ी ही विनम्रता के साथ मुझे अपने दुख-तकलीफों की कहानी सुनाया करता। मिट्टी के वर्तनों की जगह लोगों के द्वारा अल्युमिनियम और स्टील के वर्तन अपनाये जाने पर अपना असन्तोष प्रगट किया करता। जगाइ दास का यही रूप मैंने हमेशा देखा था।

लेकिन इस वार वह वात नहीं थी। इस वार का जगाइ दास मानो कोई दूसरा ही जगाइ दास था।

मैंने सुना था कि कुम्हारटोली के मन्दिर के लिए जो कमेटी वनी थी, जगाइ दास उस कमेटी का प्रेसीडेण्ट वनाया गया था। कमेटी वनने के वाद ही कमेटी के मेम्वरों की माली हालत वहुत-कुछ सुधर चुकी थी।

लेकिन जगाइ दास का क्या कहना ! वह तो साधारण मेम्वर था नहीं, था प्रेसीडेण्ट। उसकी हालत तो सवों से वढ़िया होनी चाहिए थी।

जगाइ दास मेरी वात सुनकर हठात् रुक गया।

उसने कहा—मैं तो भारी मुसीवत में पड़ गया हूँ छोटे वावू।

—क्यों भाई ? कैसी मुसीवत आ गई ?

—देखिए, वर्षा आने ही वाली है। वर्षा के पहले ही मन्दिर की मरम्मत कराना वेहद जरूरी है। और फिर यात्रियों की भीड़ इसी तरह जारी रही तो उनके ठहरने के लिए भी कोई इन्तजाम करना ही पड़ेगा। नहीं तो फिर सभी यात्री मन्दिर-कमेटी की निन्दा करेंगे। क्यों, ठीक कह रहा हूँ न ?

मैंने कहा—सो तो ठीक ही वात है।

जगाइ दास ने कहा—इसीलिए मैंने दस टन सीमेंट के लिए दरख्वास्त दी थी। लेकिन अभी तक कृष्णनगर से कोई जवाव नहीं आया। इसीलिए जा रहा हूँ उन लोगों की खुशामद करने के लिए···।

जगाइ दास की वातें सुनकर मैं हैरान रह गया।

मैंने कहा—खुशामद ? खुशामद करने की क्या वात है ?

जगाइ दास ने कहा—क्या मैं अपनी मर्जी से खुशामद करने जा रहा हूँ छोटे वावू ? जानते हैं, वी० डी० ओ० ऑफिस के चक्कर लगाते-लगाते मेरी चप्पलें घिस

गई। लेकिन अभी तक हम लोगों की दरख्वास्त मंजूर नहीं हुई है।

—पहले भी तो तुम लोगों ने दरख्वास्त देकर तीन टन सीमेंट ली थी। तो फिर अब दस टन सीमेंट की क्या जरूरत आ पड़ी?

जगाइ दास ने कहा—पहले जो तीन टन सीमेंट मिली, उससे तो मन्दिर के चारों ओर की दीवार बनाई गई थी और मन्दिर का मण्डप ढलाई किया गया था। सो किसी तरह काम चलाया गया। लेकिन जो तीर्थयात्री पूजा करने के लिए आयेंगे, वे रुकेंगे कहां? आप ही बताइए!

इस बात का मैं क्या जवाब देता? मैं तो जानता था कि जो तीन टन सीमेंट मिली थी, उससे न तो दीवार बनाई गई थी और न ही बनाया गया था मन्दिर का मण्डप। उस सीमेंट से जगाइ दास का पक्का मकान बना था और मन्दिर-कमेटी के मेम्बरों का भी एक-एक पक्का मकान। अब दस टन सीमेंट लेकर शायद उन एकतल्ले मकानों को दोतल्ला बनाया जायेगा।

जगाइ दास शायद हड़बड़ी में था। इसीलिए वह अधिक देर तक रुका नहीं।

मैंने पूछा—अच्छा तुम लोगों का मिट्टी के बर्तनों का धन्धा अब कैसा चल रहा है?

जगाइ दास चलते-चलते रुक पड़ा और बोला—मिट्टी के बर्तनों का धन्धा तो चौपट हो गया है छोटे बाबू। मिट्टी के बर्तन तो आजकल कोई खरीदता ही नहीं।

—तो फिर तुम लोगों का गुजारा किस तरह हो रहा है?

जगाइ दास ने कहा—आखिर सिर के ऊपर भगवान तो है। उसी भगवान का भरोसा है। वही हम लोगों का गुजारा कर रहा है।

उसके बाद कुछ रुककर जगाइ दास ने फिर कहा—और फिर हम लोगों की कुम्हारटोली के लोगों के पास मिट्टी के बर्तन बनाने का वक्त ही कहां है? अब तो सबों ने किसी-न-किसी चीज की दुकान खोल ली है।

—किस चीज की दुकान?

—किसी ने भात-दाल का होटल खोल लिया है, किसी ने मिठाई की दुकान खोल ली है तो किसी ने पान-बीड़ी-सिगरेट की दुकान। कोई पूजा के लिए फूल और बेलपत्र बेच रहा है तो कोई चलाता है मनिहारी की दुकान। मनिहारी की दुकानों में कांच की चूड़ियां, शंख की चूड़ियां, सिन्दूर और नकली मोतियों के हार—सभी चीजें मिलती हैं।

इसके बाद फिर जगाइ दास और रुका नहीं।

इतने दिनों तक लगातार कुम्हारटोली के मन्दिर की देवी के चमत्कारों को सुन-सुनकर आखिरकार मैं भी अपना कौतूहल रोक नहीं सका। मैंने सोचा कि चलकर देखना चाहिए कि आखिर माजरा क्या है! और फिर हमारे गांव मयनाडांगा से कुम्हारटोली का मन्दिर विशेष दूर था भी नहीं। मैंने सोचा कि चलकर देख ही आऊं कि आखिर वहां हजार-हजार यात्री क्यों आ रहे हैं? दूर-दूर के यात्री आखिर किस आकर्षण की डोर में बंधे कुम्हारटोली के मन्दिर की तरफ खिंचे आ रहे हैं? वे तीर्थयात्री क्या सचमुच

ही पुण्य कमा रहे हैं या फिर ये सारी बातें फिजूल की बातें हैं ?

सो एक दिन मैं कुम्हारटोली जा पहुँचा।

वहाँ का हाल-चाल देखकर मैं तो भारी ताज्जुब में पड़ गया। कुम्हारटोली का तो चेहरा ही बदल गया था। वे झोपड़ियाँ कहाँ गायब हो गईं ? झोपड़ियों की जगह छोटे-छोटे पक्के मकान खड़े थे। रास्तों में इतनी भीड़ थी कि लोगों के कंधों से कंधे छिल रहे थे। तरह-तरह की दुकानें खुल गई थीं। उन दुकानों में भाँति-भाँति की चीजें बिक रही थीं।

और बाहर से आये हुए हजारों यात्री पूजा करने के लिए मन्दिर की तरफ बढ़े जा रहे थे। उन यात्रियों के साथ छोटे-छोटे लड़के-लड़कियाँ भी थे। एक धर्मशाला भी बनाई जा चुकी थी। जो लोग ज्यादा दिनों तक वहाँ ठहरना चाहते थे, उनके लिए अलग इन्तजाम था। बस यूं समझिए कि कुम्हारटोली का मानो कायापलट ही हो गया था।

और मन्दिर ? कुम्हारटोली का वह पुराना मन्दिर ?

वह मन्दिर लेकिन पहले की तरह ही था। अपने पुरातन रूप में ही वह मन्दिर ज्यों-का-त्यों खड़ा था। जिस मन्दिर के कारण कुम्हारटोली का इतना नाम था, जिसके कारण कुम्हारटोली धन-धान्य से भर गई थी; किन्तु उस मन्दिर की शोभा में कुछ भी वृद्धि नहीं हुई थी।

या फिर यह भी हो सकता है कि मन्दिर-कमेटी वालों ने जान-बूझकर मन्दिर की प्राचीनता को कायम रहने दिया था।

लेकिन अगर ऐसी बात थी तो फिर टनों सीमेंट किस काम में खर्च हुई ? दर-असल मन्दिर की मरम्मत के नाम पर ली गई सीमेंट का उपयोग हुआ था कमेटी के प्रेसीडेंट जगाइ दास और दूसरे-दूसरे मेम्बरों के लिए पक्का मकान बनाने में।

कौन जाने ! इन सबों के पीछे कौन-सा रहस्य छिपा हुआ था ? और फिर मेरी वहाँ सुनता भी कौन ! मैं अगर कुछ कहने की कोशिश भी करता तो मेरी बात नक्कार-खाने में तूती की आवाज बनकर रह जाती।

संख्या के आधार पर जिस देश की किस्मत का फैसला होता है, उस देश को बहुतेरी तकलीफों का सामना करना पड़ता है। इस तथ्य को मैंने बहुत पहले ही इतिहास के पन्नों से ढूंढ़ निकाला है।

मैं हमेशा ही अल्पसंख्या वालों के दल में रहा हूँ। इसीलिए मेरी बातें कभी किसी ने सुनी नहीं। इसीलिए बातें करना छोड़कर मैंने हाथ में कलम थाम ली। जिन्होंने जीवन में कभी भी मेरी बातें नहीं सुनीं, वे अब मेरी रचनाएं पढ़ते हैं। उन्होंने ही अब मेरे जीवन-निर्वाह का खर्च उठा रखा है।

इसी बीच बम्बई से मेरे मामा जी हमारे घर पर आ पहुँचे।

मेरे मामा जी एक समय केन्द्रीय सरकार के पुलिस-विभाग में एक बड़े अफसर थे। उसके बाद रिटायर करने पर वे बम्बई में अपने बड़े लड़के के साथ रहने लगे।

उसी मामा जी ने समाचार-पत्रों में कुम्हारटोली के मन्दिर की अद्भुत देवी के बारे में पढ़कर मुझे पत्र लिखा था। उसके बाद वे हमारे घर पर भी आ पहुँचे।

आते ही उन्होंने मुझसे कुम्हारटोली के मन्दिर के बारे में खोद-खोदकर पूछना शुरू किया।

मामा जी ने पूछा—क्या कुम्हारटोली के मन्दिर की देवी माँ सब कुछ खा लेती है?

मैंने कहा—हाँ, देवी को जो कुछ भी खाने के लिए दिया जाता है; वह सब कुछ खा लेती है।

मामा जी ने पूछा—इस तरह की घटना कितने दिनों से चल रही है?

मैंने कहा—जब से कुम्हारों के मिट्टी के बर्तनों की बिक्री खत्म हुई, तब से ही कुम्हारटोली के मन्दिर की देवी-प्रतिमा का यह अनोखा काण्ड भी शुरू हो गया। इस घटना को शुरू हुए करीब पाँच साल तो हो ही गये होंगे। उस समय से ही कुम्हारटोली के मन्दिर में पूजा करने के लिए हजारों-हजार लोगों की भीड़ जुटने लगी और कुम्हार-टोली के लोगों की आर्थिक अवस्था भी सुधर गई।

मेरे मामा जी ने फिर पूछा—कुम्हारटोली के मन्दिर की देवी-प्रतिमा क्या-क्या चीजें खाती है?

मैंने कहा—मांस, मछली और अण्डे छोड़कर देवी माँ सब कुछ खाती है। भात तरकारी से शुरू कर मुड़ी, बताशा, पेड़ा, संदेश और रसगुल्ला—सभी कुछ देवी माँ खा लेती है। उसके पहले भक्तगण देवी की पूजा करते हैं और दक्षिणा में बहुत-से रुपये भी चढ़ाते हैं। उसके बाद नैवेद्य को देवी माँ के मन्दिर में रखकर चला आना पड़ता है। उसके बाद मन्दिर का द्वार बन्द कर दिया जाता है और दरवाजे पर ताला लगा दिया जाता है, ताकि बाहर का कोई भी आदमी भीतर न जा सके।

—उसके बाद?

—उसके बाद जब तीन घण्टे बीतने पर देवी का मन्दिर फिर खोला जाता है, तब देखा जाता है कि देवी माँ सारा नैवेद्य खा चुकी है।

मामा जी ने पूछा—तो औसतन रोज कितने लोग कुम्हारटोली मन्दिर में पूजा करने के लिए आते होंगे?

मैंने कहा—रोज कम-से-कम हजार लोग तो पूजा जरूर करते होंगे।

—क्या इन सभी लोगों के द्वारा माँ को चढ़ाया गया नैवेद्य देवी माँ खा लेती है? सचमुच ही यह तो बड़े अचरज की बात है।

मैंने कहा—अचरज की बात है, इसीलिए तो दिन-ब-दिन यात्रियों की संख्या बढ़ती जा रही है। शुरू में तो रोज दस-बारह यात्री ही आते थे। उसके बाद उनकी संख्या क्रमशः बढ़ने लगी और अब तो हजार-हजार यात्री प्रतिदिन आने लगे हैं। धीरे-धीरे यह संख्या और भी बढ़ जाये, तो कुछ ताज्जुब की बात नहीं होगी। और मजे की बात यह कि जब से यह अद्भुत काण्ड हुआ है, तब से कुम्हारटोली के लोगों ने मिट्टी के बर्तन बनाने का काम बन्द कर दिया है। पहले वे मिट्टी की हँड़िया, सुराही, तश्तरियाँ

आदि चीजें बनाया करते थे। पर अब उन्होंने अपना यह पुश्तैनी काम बन्द कर दिया है। कुम्हारटोली के मन्दिर की देवी ने मानों खुद उनके खाने-पहनने का बन्दोबस्त कर दिया है। कुम्हारटोली के मन्दिर की देवी ही मानो उनका पालन-पोषण कर रही है। अब तो मन्दिर-कमेटी के हरेक मेम्बर ने अपना पक्का मकान बनवा लिया है।

मामा जी ने चुपचाप गौर से मेरी सारी बातें सुनीं। उसके बाद उन्होंने कहा—मैं भी कुम्हारटोली के मन्दिर में पूजा करने के लिए जाऊँगा।

मामा जी की बातें सुनकर मैं हैरत में पड़ गया। मैंने पूछा—मामा जी, भला आप क्यों पूजा करने जायेंगे ? आपको किस चीज की कामना है ?

मामा जी ने कहा—मैं एक पुलिस का एक बड़ा डिटेक्टिव था। इसीलिए मेरी इच्छा हो रही है कि मैं भी इस अद्भुत मन्दिर की देवी के दर्शन करूँ ! यह जानने की इच्छा हो रही है कि आखिर इसके पीछे रहस्य क्या है ! आज तक तो मैं सारे रहस्यों की गुत्थी सुलझाने में कामयाब रहा हूँ, एक भी रहस्य आखिरकार रहस्य बना नहीं रह सका। इस बार देखा जाये कि कुम्हारटोली के इस मन्दिर के रहस्य की गुत्थी को मैं सुलझा पाता हूँ या नहीं।

दूसरे दिन मैं मामा जी को लेकर कुम्हारटोली के मन्दिर में गया। मन्दिर में घण्टे-घड़ियाल बज रहे थे। धूप और धूने की सुगन्ध से वातावरण मह-मह कर रहा था। और हजारों-हजार यात्री भक्ति-भाव से हाथ जोड़े मन्दिर के बाहर खड़े थे।

मैंने और मामा जी ने दूर से ही सारा दृश्य देखा। पूजा उस समय तक चल रही थी। हमारी तरफ नजर डालने की किसी को फुर्सत ही नहीं थी। जगाइ दास कहीं भी नजर नहीं आया।

मामा जी ने मन्दिर की परिक्रमा शुरू की। बाहर तो हर ओर धूम-धाम और चहल-पहल थी। लेकिन मूल मन्दिर के पुराने रूप को ही कायम रखा गया था। मामा जी मन्दिर के पीछे की तरफ भी गये। मन्दिर के पीछे गाछ-पात और झाड़ियों की भरमार थी। उन्हें साफ नहीं किया गया था। मन्दिर के पीछे जंगल-सा बना हुआ था।

मामा जी ने उस जगह का भली-भाँति निरीक्षण किया।

उसके बाद मामा जी ने मुझसे कहा—चलो विमू, घर चलें। अब कल आकर मैं भी यहाँ पूजा करूँगा और परसाद चढ़ाऊँगा।

मैं मामा जी के साथ घर लौट आया।

दूसरे दिन मामा जी हमारे गाँव से छह कोस दूर के रेल-बाजार से पचास रुपयों के फल और मिठाई खरीद लाये। उसके बाद पूजा के नियमानुसार हम लोग कुम्हार-टोली के मन्दिर की तरफ बढ़े। पूजा करने के पहले निराहार रहना जरूरी था। इसलिए हम लोगों ने भी कुछ नहीं खाया। नहा-धोकर और नयी धोती-कमीज पहनकर हम दोनों पचास रुपयों के फल और मिठाई के साथ कुम्हारटोली के मन्दिर में जा पहुँचे।

वहां जाकर हमने देखा कि जगाइ दास सभी यात्रियों से परसाद ले-लेकर रखता जा रहा था। उसने सिर्फ एक रेशमी धोती पहन रखी थी और उसके बदन पर कोई भी वस्त्र नहीं था। हम लोगों के हाथों से भी जगाइ दास ने हाथ बढ़ाकर परसाद ले

लिया। साथ ही मामा जी ने दक्षिणा के रूप में पचास रुपये भी दिये।

उस समय जगाइ दास इतना व्यस्त था कि वह हमें पहचान ही नहीं पाया। उसके बाद सबों का परसाद ले लेने के बाद यथासमय मन्दिर का द्वार बन्द कर दिया गया। और फिर दरवाजे पर ताला लगा दिया गया।

अब तीन घण्टों तक इन्तजार करना पड़ेगा। यही था वहाँ का नियम।

सभी इन्तजार करने लगे। तीन घण्टे बाद जब दरवाजे का ताला खोला जायेगा, तब सभी यात्री मन्दिर में जाकर देखेंगे कि कुम्हारटोली के मन्दिर की देवी सारा परसाद खाकर खत्म कर चुकी है।

और फिर तीन घण्टों के बाद ऐसा ही हुआ। दरवाजा खुलते ही सारे के सारे श्रद्धालु भक्त हड़बड़ाकर मन्दिर के भीतर घुस गये। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि कुम्हारटोली की देवी माँ सारा परसाद खाकर शेष कर चुकी थी। सिर्फ नैवेद्य की थाली पत्तले प्रतिमा के सामने बिखरी पड़ी थी।

यह दृश्य देखते ही सारे तीर्थ-यात्री देवी की जयजयकार करने लगे। कुम्हार-टोली की देवी माँ की जय '', कुम्हारटोली की देवी माँ की जय'''! माँ, हमारी रक्षा करो। हमारे दुःख-दर्द दूर करो''' । जय हो, जय हो, कुम्हारटोली की देवी माँ की जय हो'''!

उसके बाद वाले दिन ही कुम्हारटोली में एक दुखद खबर सुनी गई। कुम्हारटोली के घर-घर में रोना-पीटना मच गया।

यह खबर सुनते ही मैं दौड़कर कुम्हारटोली में गया। वहाँ जाकर मैंने जो कुछ सुना, उसमें मेरे ताज्जुब का ठिकाना न रहा। ऐसी घटना तो पहले कभी भी नहीं हुई थी। ऐसी घटना पहले कभी सुनी हो, यह भी याद नहीं आया।

मैंने जिसे सामने पाया, उससे ही पूछा—यहाँ क्या हो गया भाई ? इतना रोना-धोना क्यों मचा हुआ है ?

मेरे सवाल का जवाब देने लायक किसी की भी हालत नहीं थी। मैंने देखा कि सभी बेहद डरे हुए थे। उन्होंने बताया—कल शाम से ही कुम्हारटोली के करीब सौ आदमियों को लगातार कै-दस्त शुरू हो गये हैं। कै-दस्त होने का क्या कारण था, यह कोई भी बता नहीं पाया। सरकारी अस्पताल वाले लगभग पचास आदमियों को बारी-बारी से एम्बुलेंस में बिठाकर सदर अस्पताल ले गये थे। शायद डॉक्टर ने उनकी जाँच करके बताया था कि सबों के पेट में आर्सेनिक विष पाया गया था।

मैंने हैरान होते हुए पूछा—क्यों, ऐसा कैसे हो गया ? उन लोगों ने क्या कोई खराब चीज खा ली थी ?

सबों ने कहा—नहीं, किसी ने कोई खराब चीज नहीं खाई थी। वे जो कुछ रोज खाते थे, कल भी उन्होंने वही खाया था।

मैंने जगाइ दास के बारे में जानना चाहा। मैंने पूछा—और तुम लोगों की

कुम्हारटोली के मुखिया जगाइ दास का क्या हाल है ? कहाँ है वह ?

उस आदमी ने रुआँसी आवाज में कहा—वे ही तो थे कुम्हारटोली के मन्दिर के हेड पुजारी। उन्होंने तो कल अस्पताल के रास्ते में ही दम तोड़ दिया।

—क्यों ? क्या खाया था उन्होंने ?

उस आदमी ने कहा—वे तो थे माँ के मन्दिर के हेड पुजारी। सच पूछिए तो उन्होंने कुछ भी नहीं खाया था। खाने का कोई लोभ उन्हें था भी नहीं। वे तो दिन भर माँ की सेवा में ही वक्त गुजारा करते थे।

उस आदमी ने कुछ रुककर कहा—और उनकी पत्नी तथा पुत्री की हालत भी बहुत खराब है। उनकी भी किसी भी क्षण मौत हो सकती है। आज मन्दिर का द्वार भी खोला नहीं जायेगा।

घर पर आकर मैंने सारा किस्सा मामा जी को सुनाया।

मैंने कहा—आज तो मन्दिर का दरवाजा भी नहीं खोला जायेगा। दूर-दूर से जो लोग देवी के दर्शन करने के लिए और पूजा करने के लिए आये थे, सभी निराश होकर लौट गये हैं।

मामा जी ने जवाब दिया—सिर्फ आज ही नहीं, तुम देखोगे कि अब किसी भी दिन मन्दिर का द्वार नहीं खुलेगा। इस तरह की धोखाधड़ी के सहारे ज्यादा दिनों तक किसी को बुद्धू बनाया नहीं जा सकता। ब्लफबाजी एक-न-एक दिन पकड़ी ही जाती है।

—ब्लफबाजी ?

मामा जी ने कहा—ब्लफबाजी नहीं तो और क्या ? अपने नौकरी-जीवन में मैंने इस तरह की बहुत-सी ब्लफबाजी बन्द की है।

—सो किस तरह मामा जी ?

—उसी तरह, जिस तरह मैंने कुम्हारटोली के मन्दिर में चलने वाली धोखा-धड़ी को बन्द किया है।

—किस तरह ?

मामा जी ने कहा—क्या तुमने परसों ध्यान नहीं दिया था ? मन्दिर के पिछले हिस्से में किस तरह झाड़ियाँ और गाछ-पात उगे हुए थे। मैंने यह देख लिया था कि उन झाड़ियों के बीच से मन्दिर के भीतर जाने का एक गुप्त रास्ता बना हुआ था। मुझे यह समझते देर नहीं लगी कि इसी रास्ते से होकर देवी का नैवेद्य बाहर निकाल लिया जाता था। इसीलिए मैंने कुम्हारटोली की दुकान से मिठाई न खरीद कर छह कोस दूर के रेल बाजार से मिठाई खरीदी थी। वे सभी मिठाइयाँ बहुत कीमती थीं। मैंने उन मिठाइयों में छिपाकर आर्सेनिक मिला दिया था।

मामा जी की बातें सुनकर मैं हैरान-परेशान रह गया। मैंने कहा—आपने मिठाई में जहर मिला दिया था मामा जी ? आपने यह क्या किया ? आपके कारण ही कितने ही लोग खामख्वाह मौत के शिकार बन गये।

मामा जी ने कहा—हाँ, कुछेक लोगों की मौत जरूर हो गई है। लेकिन इस

धोखाधड़ी से तो हजारों-हजार लोगों को छुटकारा मिला। ज्यादा लोगों की भलाई के लिए अगर थोड़े-से लोगों का नुकसान भी होता है; तो इसमें कोई बुराई नहीं कोई हर्ज नहीं। पुलिस की नौकरी में हम लोगों ने यही शिक्षा पाई है। पुलिस की नौकरी में रहते हुए मैंने इस तरह के बहुतेरे धोखाधड़ी के काण्डों का भण्डाफोड़ किया है और उन्हें बन्द किया है।

विगत वसन्त

ऑफिस से निकलकर शशिकान्त ने सोचा—चलो मुक्ति मिली ! इतने दिनों के बाद उसे मुक्ति मिली है। ऑफिस का बड़ा गेट उसी तरह मुँह बाये खड़ा था। उसी जगह दूसरे सभी लोगों की भाँति शशिकान्त ने अपने जीवन का सर्वस्व होम कर दिया—यौवन, स्वास्थ्य, सुख-स्वाच्छन्द्य—सभी कुछ ! और आज से उसे मुक्ति मिल गई है। शशिकान्त ने मुक्ति का एक निःश्वास निस्सारित किया।

मोड़ के पास आकर शशिकान्त ने पीछे मुड़कर अपनी ऑफिस की ओर आखिरी बार दृष्टिपात किया। लाल रंग की बिल्डिंग। उसी लाल बिल्डिंग के कमरे-कमरे में काले-काले आदमी दिन भर न जाने कैसी खटनी करते हैं ! उसी ऑफिस की कुर्सी पर बैठे-बैठे काम करते हुए कितने ही लोगों को पागल होते देखा है शशिकान्त ने ! सचमुच के पागल। किसी ने कभी फाइल पर चिड़िया का चित्र अंकित कर दिया, ऐसी भी घटना घटी है ! लेकिन शशिकान्त पूरे बयालीस वर्षों से एक ही तरह लगातार काम करता आया है; कभी कोई भूल नहीं हुई, कभी कोई दाग नहीं लगा। ऑफिस के लोग कहते—बड़े बाबू आदमी नहीं, मशीन हैं—मशीन !

मोड़ के पास वाली पान की दुकान के पास आकर खड़े होते ही पान वाले ने नित्य के नियम के अनुसार पान के दो बीड़े आगे बढ़ा दिये। उसने थोड़ा-सा चूना दिया और तम्बाकू भी। बयालीस वर्षों से यही चलता आ रहा है, भूल होने का सवाल नहीं उठता।

शशिकान्त ने पूछा—मेरा क्या हिसाब है ?

हिसाब चुकती कर देने के लिए पान वाले को कोई हड़बड़ी नहीं। बयालीस वर्षों से वह बड़े बाबू को पान खिलाता आ रहा है—सुबह भी और शाम को भी। हिसाब कभी बकाया पड़ा रहता, तो कभी चुका भी दिया जाता।

पान वाले ने कहा—रहने भी दीजिए, बड़े बाबू। किसी समय फुर्सत से हिसाब देखकर रखूंगा।

—नहीं, हिसाब बाकी नहीं रहेगा। शशिकान्त ने प्रतिवाद किया।

जरूरत भी क्या है ? जीवन में उसने कभी किसी से कर्ज नहीं लिया। कर्ज लेने की उसकी आदत ही नहीं। कर्ज लेने में उसे बड़ा डर लगता। ऑफिस से मिले वेतन से उसने अपना खर्च चलाया है—अपनी जरूरतें पूरी की हैं। मौका आने पर उसने कर्ज दिया जरूर है, परन्तु कभी किसी से कर्ज लिया नहीं।

अपने मनीबैग से ग्यारह आने निकाल कर शशिकान्त ने पान वाले का हिसाब चुकती किया और चैन की साँस ली।

यहाँ से भी ऑफिस की बिल्डिंग दिखाई पड़ रही थी। शाम हो रही थी। ऑफिस के सभी लोग पाँच बजते ही चले गये ! सबों के साथ विदाई लेने में तथा कुछेक आवश्यक कार्य निपटाने में ही शशिकान्त को देर हो गई। सो इसे देर क्या कहा जाये ? रात में वह घर पर सिर्फ सोने के लिए ही तो मानो आया करता था ! रात के आठ बजे हैं—नौ बजे हैं और दस भी…। काम में मशगूल होकर कितनी ही बार शशिकान्त घड़ी देखना भी भूल जाया करता। तब ऑफिस का दर्वान आकर उसे सचेत करता। शशिकान्त की नजर घड़ी के ऊपर पड़ती और वह जान पाता कि रात के दस बज चुके हैं…।

छोड़ो भी। चलो, इतने दिनों के बाद मुक्ति मिली है !

चलते-चलते शशिकान्त को एहसास हुआ मानो फुटपाथ के पत्थर तक भी उसके जाने-पहचाने हैं ! रास्ते के किस मोड़ पर कौन-सा पत्थर टूटा हुआ है—कितने वर्षों से टूटा हुआ है, यह भी शशिकान्त जानता है। ये दुकानें उस समय यहाँ नहीं थी। यहाँ थी झोपड़पट्टी। उसके पास ही परती जमीन थी। गर्मी के दिनों में शशिकान्त वहीं उस पत्थर के ऊपर बैठकर विश्राम किया करता।

और एक दिन की बात उसे याद है। बारिश के दिन थे। तीन दिनों तक बारिश रुकने का नाम ही नहीं लेती थी। धोती सँभालते-सँभालते ऑफिस आना होता और ऑफिस आते ही कुरता सुखाना पड़ता। और घर लौटते वक्त फिर कुरता भीग जाता ! उसी भीगे कुरते में साहब के पास फाइल लेकर जाने में शशिकान्त को बहुत शर्म आती। किन्तु उसके कारण ऑफिस का काम तो बन्द नहीं रह सकता।… ऑफिस आने के रास्ते में पानी जमा हो गया था। जब शशिकान्त दफ्तर में पहुँचा, तब तक ग्यारह बज चुके थे उसी बीच साहब उसे बुलाने के लिए पाँच बार चपरासी को भेज चुके थे। साहब का क्या है ? वे तो गाड़ी में आते हैं। आखिरकार जो होना था, वही हुआ…।

ऑफिस में कम लोग आये थे। छुट्टी के बाद जिसे जब मौका मिला, तभी वह चला गया। शशिकान्त अपने काम में डूबा हुआ था। जब उसने नजर उठाकर चारों तरफ देखा तो पता चला कि सभी लोग जा चुके थे। फाइलें भी खूब जमा हो गई थी। उसने सोचा कि बारिश के कुछ कम होते ही वह चला जायेगा। किन्तु रात के नौ बजे ऐसी बारिश हुई। जैसी बारिश कलकत्ता महानगरी में पिछले बीस वर्षों में नहीं हुई थी।

उसके बाद दर्वान की रोटी खाकर सारी रात वहीं बिताना शशिकान्त को अभी भी याद है ! आधी रात को उसे ऐसा महसूस हुआ मानो कोई धम्-धम् करता चहल-कदमी कर रहा था। फाइलें और फाइलें…। फाइलों का पर्वत ! उस रात किसी अदृश्य अशरीरी पदचाप से आक्रान्त शशिकान्त रात-भर आतंक के कारण अर्द्ध-मूर्छित-सा पड़ा

रहा था। उस रात की बात उस दर्बान को छोड़कर और कोई नहीं जानता। शशिकान्त ने काम का ऐसा नशा कहाँ पाया था, कौन जाने ! लेकिन तरक्की हुई सिर्फ बड़े बाबू के पद तक। काम ही किया है शशिकान्त ने, काम का आदमी वह कभी भी नहीं बन पाया।

सात दिनों पहले ही शशिकान्त का फेयरवेल हो चुका है।

एक छोटी-मोटी-सी सभा, दो-चार लोगों का भाषण और फूलों की माला ! उसके बाद साहब का प्रसन्नतापूर्वक हाथ मिलाना।

साहब ने कहा—तुम्हारे शेष जीवन में सुख-शान्ति हो, यही कामना करता हूँ। इतने दिनों तक तुमने जिस तरह काम किया है—अन्य किरानियों के लिए तुम्हारा चरित्र एक उदाहरण बन कर रहेगा। शशि, मैंने सुना है कि तुम अभी अविवाहित हो। रेल कम्पनी तुम्हें कृतज्ञतापूर्वक याद करेगी। उस कृतज्ञता के प्रतीक के रूप में कम्पनी की तरफ से तुम्हें एक 'फ्री कार्ड पास' दिया जाता है। तुम जब तक जीवित रहोगे, तब तक के लिए···।

शशिकान्त का शरीर सिर से पैर तक दर्द से टन्-टन् कर उठा। बिल्कुल हठात् ही। हठात् ही उसने अपने-आपको बहुत ही दुर्बल पाया, बहुत ही असहाय···!

शशिकान्त ने दूर-दूर तक नजर दौड़ाई। ये दुकानें और ये ट्राम-बस के रास्ते··· इन्हें पार कर और भी दूर तक मानो असीम शून्यता व्याप गई उसका कोई भी सहारा नहीं, कोई भी सम्बल नहीं ! किस तरह उसके दिन कटेंगे? उसे उपनगरीय इलाके के उस छोटे-से मकान की याद आई। उस छोटे-से मकान में मान लें कि आज की रात कट भी गई; या फिर दो महीने कट गये या दो साल ! लेकिन उसके बाद? सुबह जब लोग-बाग घर से ऑफिस की तरफ भागेंगे—तब शशिकान्त कमरे के भीतर बैठकर किसके सहारे समय बितायेगा? इतने दिनों तक समर्पित भाव से जिसकी सेवा करता आया है, उसी ने आज उसे रद्द कर दिया। शशिकान्त ने सोचा— वह रद्द करना नहीं है तो और क्या है ! अब उसकी कोई जरूरत नहीं है ! कम्पनी के लिए आज वह अनावश्यक है ! शशिकान्त खुद अपने-आपको बड़ा बेवकूफ समझने लगा। सारा जीवन देकर उसने कम्पनी की सिर्फ सेवा ही की है—कोई प्रतिदान भी नहीं चाहा। जो प्रतिदान मिला भी है, वह बड़ा मामूली है। किन्तु फिर भी उसने पल भर के लिए भी विश्राम नहीं किया। कम्पनी के एक पैसे के नुकसान को भी उसने अपना निज का नुकसान समझा है। वह जैसे एक नशा था; नशे-नशे में ही दिन बीत गये।···और आज उसे मुक्ति मिल गई। शशिकान्त ने सोचा—क्या ऐसी ही मुक्ति की उसने कामना की थी?

बड़े हॉल के बीच उसकी कुर्सी उसी जगह पड़ी है—कल भी वहीं पड़ी रहेगी। लेकिन कल से उस कुर्सी पर बैठेंगे भूपति बाबू !

भूपति बाबू भले आदमी हैं। आज उन्होंने कहा था—बड़े बाबू, आप आज के दिन कोई भी काम नहीं कीजिए। कम-से-कम एक दिन के लिए थोड़ा आराम कीजिए···।

भूपति बाबू सचमुच बढ़िया आदमी हैं। उस बार शशिकान्त के बीमार होने पर उन्होंने खुद कविराज के पास से दवा लाकर उसे खिलाई थी। किसी भी दिन शशिकान्त को सेवा-स्नेह और प्रेम की आवश्यकता महसूस नहीं हुई—सेवा-स्नेह और प्रेम उसे मिला भी नहीं। उतना समय—उतना अवकाश शशिकान्त के पास था ही नहीं। कम्पनी ने शशिकान्त के पास से अपना पावना सूद और मूल सहित वसूल कर लिया है! कब एक दिन अपने रिश्तेदारों से लड़-झगड़ कर शशिकान्त घर से भाग गया था, यह बात आज और याद नहीं। उसके बाद नागपुर, रायपुर, बिलासपुर और चक्रधरपुर आदि जगहों में काम करने के बाद आखिरकार वह कलकत्ता चला आया—हेड ऑफिस में उसने घर की उपेक्षा की थी—सो घर-संसार बाँधना फिर हुआ ही नहीं। कम्पनी ने जब उसे विदाई का अभिनन्दन दिया, तभी शशिकान्त ने सोचा—अरे, बहुत देर हो गई। इसीलिए शशिकान्त को उस छोटे-से घर की बात याद आते ही परिवार की कमी बहुत ज्यादा खलने लगी।

आते वक्त शशिकान्त चपरासी के हाथ में एक रुपया रख आया था। चपरासी बहुत ही खुश हुआ! शायद थोड़ा दुखी होना स्वाभाविक ही है। वह शशिकान्त के लिए नियमपूर्वक मद्रासी टिफिन-रूम से चाय ला देता! शशिकान्त को कुछ कहना ही नहीं होता। बयालीस साल इसी तरह बीत गये। घोर नियमबद्धता में बँधा था शशिकान्त का प्रत्येक दिन। प्रत्येक क्षण—प्रत्येक पदक्षेप में शशिकान्त एक एक कदम आगे बढ़ता आया है; बयालीस वर्षों से आगे बढ़ता आया है—सिर्फ शेष हो जाने के लिए ही।

रात में कितनी ही बार बिछौने पर अकेला सोया हुआ शशिकान्त चिल्ला उठा है—'द्विजपद, ओ द्विजपद! द्विजपद उसके चपरासी का नाम था। द्विजपद के बिना साहब को फाइल देकर कौन आयेगा? सपने में भी शशिकान्त साहब के पास फाइलें भेजा करता। शशिकान्त ने महसूस किया—अपनी सन्तान की बात भी कोई इस तरह नहीं सोचता। सन्तान की बातों पर भी कोई इतना उद्विग्न नहीं होता! सचमुच उसके लिए ऑफिस की फाइलें सन्तान से भी बढ़कर थीं।

उस समय वह मात्र सत्रह साल का लड़का था। उसी उम्र में घर से भागकर वह सुदूर नागपुर चला गया, अपने चाचा से झगड़ कर! और···और एक सुकोमल चेहरे की याद उसे आई···!

न जाने क्यों ट्राम-बस के कोलाहल से मुखरित उस नगरी के जनारण्य में—शाम के धुँधलके में—दूर-बहुत दूर से एक विस्मृतप्राय मुखड़ा—स्निग्ध और सुकुमार, आँसुओं से भरा हुआ मुखड़ा—शशिकान्त की आँखों के सामने तैर गया। शशिकान्त हठात् मानो कहीं खो गया।

चाचा जी ने कहा था—शादी? शादी करोगे! शादी करोगे, तो खिलाओगे क्या? ढीठ कहीं के! इसी उम्र में जहन्नुम में गये हो···। चलो, निकल जाओ घर से···। आवारा कहीं के···!

शशिकान्त जहन्नुम में गया है। सचमुच वह जहन्नुम में गया है।···सिर्फ एक सहारा था, वह भी छूट गया।

शशिकान्त को ऐसा प्रतीत हुआ मानो वह रास्ता कभी खत्म होगा ही नहीं ! मानो वह घर की राह पर न चलकर एक वृत्ताकार पथ पर घूम रहा हो ! और अब उसके पास कोई काम नहीं है। और सभी लोगों के पास काम है, उनकी जरूरत भी है—सिर्फ उसकी जरूरत नहीं किसी को भी। नहीं-नहीं, वह कल ही चला जायेगा। फ्री-पास तो है ही। ट्रेन में जा बैठेगा। जितनी दूर तक वह चला जायेगा, चलता रहेगा। कम्पनी ने उसके ऊपर मेहरवानी की है—वह उस कृपा की मर्यादा की रक्षा करेगा। ट्रेन की वह यात्रा, रात-दिन की यात्रा; विना किसी रुकावट के—अविराम यात्रा ! कितने ही दिनों तक वह ट्रेन में बैठा नहीं था ! रेलवे की नौकरी थी उसकी और ताज्जुव की वात है कि खुद वही रेल में नहीं बैठा !

हठात् शशिकान्त को याद आया—अरे, अपने दराज की चावी तो वह भूल से अपने साथ ही लेता आया है ! कल से तो यह चावी भूपति वावू के पास रहेगी। कल इस चावी के विना भूपति वावू का काम अटका जो रहेगा !

शशिकान्त लौट पड़ा।

फिर वही रास्ता। वयालीस वर्षों का परिचित रास्ता ! कल से ऑफिस के साथ के उसके सारे सम्वन्ध शेष हो जायेंगे। चावी आज ही लौटा देनी होगी ! दर्वान के हाथ में वह चावी दे आयेगा ताकि अगले दिन चावी भूपति वावू तक पहुँच जाये ! वयालीस वर्षों तक काम करने के वाद यह कैसी भूल···?

पूरे ऑफिस में अँधेरा था। किसी कोने में इक्का-दुक्का वल्व जल भी रहा था। शशिकान्त ने चुपचाप भीतर प्रवेश किया। पता नहीं दर्वान कहाँ पर था—शायद पास ही कहीं रहा हो !

शशिकान्त ने अपनी कुर्सी पर वैठकर टेवुल-लैम्प जला दी। उसके वाद उसने चावी से आलमारी का दराज खोला। कल से उसे यह सव छोड़कर चला जाना होगा। कल से यह आलमारी खोलेगा और कोई दूसरा आदमी ही। शशिकान्त को महसूस हुआ मानो यह अन्याय है, यह अनधिकार प्रवेश है।

चारों तरफ फाइलों का स्तूप—देखने में वड़ा ही आनन्ददायक। इतना आनन्द शशिकान्त और कहीं भी हासिल नहीं कर पाता। वहीं वैठकर शशिकान्त एक-एक दराज खोलकर सारे कागज-पत्तर वाहर निकालकर रखने लगा। कितने दिनों की कितनी ही स्मृतियों से जुड़े हुए एवं कितनी ही स्मृतियों के वाहन थे वे ! शशिकान्त के मन में हठात् फिर से जीने की लालसा पनपने लगी। वह सोचने जगा—भारी गलती हो गई है। काश, वह फिर से एक नये सिरे से जीवन आरम्भ कर पाता !

एक टूटा कटोरदान, एक टिंचर-आयोडीन की शीशी, थोड़ा-सा फटा चिथड़ा—कितनी ही चीजें दिन-व-दिन इकट्ठी हो गई थीं।

रात के अभी कितने वजे हैं ? इतने समय तक तो और दिनों शशिकान्त स्वेच्छा से काम करता रहा है !

दराज के नीचे एक कोने में एक चिट्ठी थी। शशिकान्त के नाम लिखी गई चिट्ठी। शशिकान्त ने लिफाफे को रोशनी में देखा। हाँ, उसी की तो चिट्ठी थी ! कोई

सन्देह की बात नहीं। पैंतीस साल पहले वह चिट्ठी उसके पास आई थी। इतने दिनों तक चिट्ठी खोली ही नहीं गई। कैसे ताज्जुब की बात है! शायद वह ऑफिस के काम में व्यस्त रहा होगा और बाद में पढ़ने के इरादे से उसने चिट्ठी दराज के भीतर ही रख दी होगी। उसके बाद वह चिट्ठी दराज में ही पड़ी रही। पैंतीस वर्षों तक···! कैसे ताज्जुब की बात है···?

शशिकान्त ने आनन-फानन लिफाफे को फाड़कर चिट्ठी बाहर निकाली। चिट्ठी कई जगहों से घूमकर आखिरकार उसके हाथ में पहुँची थी। बहुतेरे डाकघरों की मुहर लगी थी उस लिफाफे पर।

चिट्ठी के पन्ने पर नजर डालते ही शशिकान्त को मानो काठ मार गया। ऐसा लगने लगा मानो उसकी स्पन्दनहीन देह मूर्च्छित होकर गिर पड़ेगी।

चिट्ठी लिखी थी तिलोत्तमा के पिता जी ने। शशिकान्त ने एक ही साँस में वह चिट्ठी पढ़ डाली :

"बेटे शशिकान्त,

पिछली मकर-संक्रान्ति के दिन तुम्हारे चाचा जी का स्वर्गवास हो गया। अब तुम्हारे और तिलोत्तमा के विवाह में कोई आपत्ति नहीं उठेगी। मुझे भी कोई आपत्ति नहीं है। बल्कि मुझे तो खुशी ही होगी। तुम फौरन छुट्टी लेकर चले आओ। इस महीने में ही जिस तरह विवाह सम्पन्न हो जाये, वही व्यवस्था कर रहा हूँ। इति···।"

शशिकान्त ने चिट्ठी की तारीख देखी। पूरे पैंतीस साल पहले की चिट्ठी थी!

शशिकान्त उसी कुर्सी पर बैठा-बैठा एकटक चिट्ठी को देखने लगा। हठात् उसकी इच्छा हुई कि वह चीख पड़े! मानो वह पागल हो जायेगा! वह प्रवंचित किया गया है! उसके साथ धोखा हुआ है। सबों ने मानो उसके साथ षड्यन्त्र किया है। पृथ्वी के और पाँच आदमियों को जो सुख नसीब हुआ है, उससे भी वह वंचित रहा है। यह षड्यन्त्र नहीं तो और क्या है? बयालीस वर्षों से यह षड्यन्त्र चलता आ रहा था—आज मानो उस षड्यन्त्र का पर्दाफाश हुआ है! आज, जबकि उसका कोई भी सहारा नहीं, कोई आश्रय नहीं, कोई स्नेह-नीड़ नहीं और नहीं है कोई आदमी, जिसके साथ शिकवा-शिकायत किया जा सके!

उसके बाद ऑफिस के उस निर्जन कमरे में अनन्त सागर की लहरें आ-आकर टकराने लगीं। दूर-दूर तक गिद्धों के उड़ने से आकाश काला हो गया··· और अचानक बन्दरगाह से गूँजती हुई जहाज की सीटी की आवाज से उसकी नींद टूट गई। स्वप्नलोक के आँगन में खड़े-खड़े मानो कोई उसे हाथों से इशारा करके बुलाने लगा। शशिकान्त सोचने लगा—लुट गया, सभी कुछ लुट गया! यह जिन्दगी ऐसी तो नहीं थी। यह कैसा

अनास्वादित और अकल्पित परिधि है। पृथ्वी की क्षितिज-रेखा के परे न जाने किसने कोई जादुई चिराग जला दिया था, जिसमें न तो प्रकाश था और न ही उत्ताप। अगर कुछ था तो मात्र धूमायित कलंक ! गगन और पवन—सभी मानो कलंकित हो गये···।

और उसी क्षण रात्रि के हृदय को झकझोरती हुई एक अजीव-सी आवाज उठी। वह क्षीण आवाज क्रमशः भयंकर होती गई···। उसके वाद उसी आवाज की गूंज-अनुगूंज से असंख्य तरंगें उत्पन्न हो गईं। मृत्यु और जीवन की तरंगें, आशा और हताशा की तरंगें एवं मिलन और विछोह की तरंगें ! उन तरंगों के आघात-प्रत्याघात से जीवन और मृत्यु—सभी निश्चिह्न हो गये। और शशिकान्त का हृदय कह उठा—लुट गया, सभी कुछ लुट गया···।

दूसरे दिन सवसे पहले झाड़ूदार की नजर पड़ी, जवकि वह झाड़ू देने आया था।

उसके वाद एक-एक कर सभी आये। सारे किरानी, भूपति वावू, द्विजपद—सभी !

शशिकान्त की उपस्थिति से मानो सवों की वोलती ही वन्द हो गई। सवों ने देखा कि शशिकान्त अपनी कुर्सी पर वैठा हुआ था। टेवल के ऊपर फाइलों का स्तूप वना हुआ था ! और शशिकान्त निरुद्वेग और एकाग्रचित्त हो काम करता जा रहा था। उस निष्पन्द मूर्ति की ओर देखकर सहसा कोई भी कुछ कहने का साहस नहीं कर सका। सवों ने सोचा कि शशिकान्त आज अपने आपे में नहीं है—जरूर ही वह पागल हो गया है।

अभिनय

मैंने कहा—नहीं भाई, तुम लोगों ने गलत बात सुन रखी है। मैंने अपनी जिन्दगी मे कभी भी किसी नाटक मे अभिनय किया ही नही"।

सभी हताश हो गये। बिलासपुर की रेलवे-कॉलोनी के लड़के बड़ी उम्मीद लेकर मेरे पास आये थे। वे चाहते थे कि उनके द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले नाटक मे मैं भी अभिनय करूँ। तीन दिनो तक थियेटर, नाच और गीत-सगीत के प्रोग्राम का आयोजन किया गया था। चन्दे के बतौर बेशुमार रुपये इकट्ठे किये गए थे। सात सौ रुपये तो कोलियरी के मालिको से ही मिले थे। कलकत्ते से ड्रेसर और मेकअप-मैन को भी बुलाया गया था।

मैंने फिर कहा—नही भाई, तुम लोगों ने सरासर गलत बात सुन रखी है। मैं और अभिनय? बिल्कुल नामुमकिन···!

किन्तु लड़कों के चले जाने के बाद हठात् मानो मैं अनजाने ही चौंक उठा। तो क्या वे लड़के अन्तर्यामी थे? आखिर उन्हें इस बात का पता कैसे चला? मैंने तो उन लड़कों से झूठ कह डाला था। खिड़की से मैंने देखा कि वे लड़के बुधवारी बाजार की तरफ चले जा रहे थे। थोड़ी ही देर मे सारे शहर मे रास्ते के किनारे बत्तियाँ जल उठीं शायद डाउन बाम्बे मेल के आने का वक्त हो गया था। ताँगेवाले सवारी लेकर सरपट स्टेशन की तरफ अपने ताँगे भगाये जा रहे थे। अपने अँधेरे कमरे मे बैठे-बैठे मुझे न जाने कैसी घबराहट-सी होने लगी। उन लड़कों से मैंने झूठ ही तो कहा था। सरासर झूठ···। सच तो यह है कि मैं भी अपने जीवन मे एक बार अभिनय कर चुका हूँ। एक छोटा, एकांकी नाटक···। ऐसा नाटक, जिसके लिए मंच की, परदे की, ड्रेसर-मेकअप-मैन की और रिहर्सल की—किसी की भी जरूरत नही पड़ी। फिर भी उस दिन मैंने अभिनय किया था, बेजोड़ अभिनय··!

वे लड़के किन्तु जा चुके थे और उन्हें फिर दोबारा बुलाया नही जा सका।

अपने अँधेरे कमरे में बैठे-बैठे ही मानो मैंने हठात् मल्लिक महाशय को साक्षात् अपनी

आँखों के सामने देखा। मल्लिक महाशय ने मानो मुझसे पूछा—दूल्हा तुम्हें कैसा लगा विमल ?

मैंने कहा—वहुत वढ़िया, लाजवाव।

मल्लिक महाशय ने फिर कहा—मैं जानता था कि जयन्त जरूर राजी हो जायेगा। अभी उसकी उम्र ही कितनी है ! इस उम्र में ही उसे चार सौ रुपये माहवार मिल रहे हैं। इसके वाद एक डिपार्टमेण्टल परीक्षा देने के वाद ही सीधा अफसर वन जायेगा।···लेकिन तुमने अच्छी तरह खाया है तो ? पेट भरा तो ?

मैंने इस वार भी कहा—हाँ, मल्लिक दा।

—मांस कैसा वना था ?

मैंने कहा—वहुत वढ़िया।···लेकिन अव मैं चलूंगा मल्लिक दा। और देर करने पर मुझे शायद ट्रेन नहीं मिलेगी।

किसी तरह मल्लिक महाशय से पिण्ड छुड़ाकर मैं वाहर आया ही था कि सामने मैंने आदिनाथ को खड़ा पाया।

आदिनाथ ने पूछा—क्या आप सचमुच खाकर नहीं जायेंगे ?

मुझे याद है कि मैंने आदिनाथ के दोनों हाथ पकड़कर कहा था—तुम वुरा मत मानना भाई। इस वक्त मुझे खाने के लिए मत कहो···। मैं तुमसे माफी चाहता हूँ।

—आखिर गरीव की कुटिया में भात-दाल-सब्जी, जो कुछ भी जुटे; वही···।

लेकिन वीस साल पुरानी इस घटना का एक अंश-मात्र सुनाकर ही क्या पूरी वात समझाई जा सकती है ? पाँच सौ मील की दूरी पर अवस्थित विलासपुर की रेलवे-कॉलोनी के इस वी-टाइप क्वार्टर में वैठकर भी मानो मैं अंधकार को भेद कर आ रही शंख-ध्वनि को सुन पा रहा हूँ। तो क्या वीस साल पहले की आवाज को यहाँ तक पहुँचने में इतना समय लगना चाहिए ! उसके वाद तो न जाने कितने देश, कितनी नदियाँ और कितने पहाड़ चुपचाप लाँघकर मैं यहाँ आ पहुँचा हूँ। लेकिन उस दिन की वह मर्मान्तिक घटना आखिर मैं भूल कैसे गया था···?

तो फिर शुरू से ही पूरा किस्सा वयान करता हूँ।

सचमुच यह घटना वीस साल पुरानी तो होगी ही। मैं एक दिन ट्रेन में वैठकर कृष्ण नगर जा रहा था। हठात् एक छोटी-सी स्टेशन पर हमारी ट्रेन रुक गई। सुना गया कि ट्रेन और आगे अव नहीं जायेगी। ट्रेन जहाँ-की-तहाँ खड़ी थी। ट्रेन कल भी जा सकती है, परसों भी जा सकती है या फिर उसके वाद वाले दिन। इच्छामती नदी में वाढ़ आ गई थी और आगे काफी दूर तक रेल की पटरियाँ वाढ़ के पानी में डूव गई थीं। जव तक वाढ़ का पानी निकल न जाये, तव तक कुछ नहीं कहा जा सकता।

ट्रेन के यात्री अपना-अपना माल-असवाव लेकर ट्रेन से उतर पड़े।

वह एक छोटी-सी स्टेशन थी। न ही वहाँ का प्लेटफार्म वढ़िया था और न ही था वहाँ कोई वेटिंग-रूम। कोई कुली भी नजर नहीं आ रहा था। स्टेशन पर एक छोटा-

सा घर था, जिसमें स्टेशन-मास्टर का दफ्तर था। कंकड़ों से पटे प्लेटफार्म पर आखिर रात कैसे बिताई जा सकती थी!

स्टेशन-मास्टर टेलीफोन पर बातें करने में ही व्यस्त थे। किसी यात्री के साथ बात करने की उन्हें फुर्सत ही नहीं थी।

हाथ हिलाते हुए उन्होंने कहा—इस समय मरने का भी वक्त नहीं है साहब। तीन अप गाड़ियाँ और दो डाउन गाड़ियाँ इस स्टेशन में अटकी पड़ी हैं।

उसके बाद पास के टिफिन-कैरियर की तरफ इशारा करते हुए उन्होंने कहा—खुद अपनी आँखों से देख लीजिए। घर से हलुआ बनाकर भेजा गया है, लेकिन अब तक मैं उसे खा नहीं सका।

यह कहकर स्टेशन-मास्टर फिर टेलीफोन पर जोर-जोर से चीखने लगे—हैलो, हैलो···।

चारों ओर अँधेरा-सा छा गया। शाम हो गई थी। इस जगह रात बितानी पड़ेगी, यह सोचकर ही मैं काँप उठा। आज शनिवार का दिन था। दोपहर के वक्त मैं सियालदह से ट्रेन में बैठा था। अब फिर लौटकर सोमवार को दफ्तर में हाजिरी देनी होगी।

प्लेटफार्म पर खड़ा-खड़ा मैं इन्हीं विचारों में डूबा हुआ था। हठात् स्टेशन के एक कोने पर एक बोर्ड पर बड़े-बड़े अक्षरों में 'भैरवगंज' लिखा हुआ देखते ही मुझे कुछ याद आ गया।

भैरवगंज!

तो यह भैरवगंज स्टेशन है! इसी भैरवगंज में ही तो मल्लिक महाशय का मकान है। मल्लिक दा ने कितनी ही बार मुझे भैरवगंज आने का न्योता दिया था। लेकिन यहाँ आना कभी मुमकिन हुआ ही नहीं। उनके गाँव का नाम तक मुझे याद था। छुटीपुर···। इसी छुटीपुर से मल्लिक महाशय डेली पैसेंजरी किया करते थे।

मल्लिक दा कहा करते—तुम्हें तो छुटीपुर आने की कभी फुर्सत ही नहीं मिली विमल···। जो भी हो, लेकिन मीनू की शादी के समय मैं तुम्हारी बहानेबाजी कतई नहीं सुनूँगा।

मैं जवाब देता—मैं जरूर आऊँगा मल्लिक दा। आप देख लीजिएगा कि मीनू की शादी के समय मैं जरूर आपके गाँव आऊँगा।

उसके बाद मल्लिक दा हताश होकर कागज-पत्तर उलटते हुए कहते—हाँ, तुम खूब आओगे शादी में! तुम्हारी फाँकीबाजी क्या मैं समझता नहीं?

सचमुच, कितने ही बेकार के कामों के लिए मैं कितनी ही जगहों में गया हूँ। लेकिन मल्लिक दा के गाँव छुटीपुर में जाना मेरे लिए मुमकिन हुआ ही नहीं। हठात् इतने दिनों के बाद भैरवगंज स्टेशन के प्लेटफार्म पर खड़े-खड़े मल्लिक दा की वे सारी बातें याद आ गईं।

स्टेशन के पीछे बीड़ी-पान की एक छोटी-सी दुकान थी। वहीं जाकर मैंने पूछताछ की।

आँखों के सामने देखा। मल्लिक महाशय ने मानो मुझसे पूछा—दूल्हा तुम्हें कैसा लगा विमल ?

मैंने कहा—बहुत बढ़िया, लाजवाब।

मल्लिक महाशय ने फिर कहा—मैं जानता था कि जयन्त जरूर राजी हो जायेगा। अभी उसकी उम्र ही कितनी है ! इस उम्र में ही उसे चार सौ रुपये माहवार मिल रहे हैं। इसके बाद एक डिपार्टमेण्टल परीक्षा देने के बाद ही सीधा अफसर बन जायेगा।···लेकिन तुमने अच्छी तरह खाया है तो ? पेट भरा तो ?

मैंने इस बार भी कहा—हाँ, मल्लिक दा।

—माँस कैसा बना था ?

मैंने कहा—बहुत बढ़िया।···लेकिन अब मैं चलूँगा मल्लिक दा। और देर करने पर मुझे शायद ट्रेन नहीं मिलेगी।

किसी तरह मल्लिक महाशय से पिण्ड छुड़ाकर मैं बाहर आया ही था कि सामने मैंने आदिनाथ को खड़ा पाया।

आदिनाथ ने पूछा—क्या आप सचमुच खाकर नहीं जायेंगे ?

मुझे याद है कि मैंने आदिनाथ के दोनों हाथ पकड़कर कहा था—तुम बुरा मत मानना भाई। इस वक्त मुझे खाने के लिए मत कहो···। मैं तुमसे माफी चाहता हूँ।

—आखिर गरीब की कुटिया में भात-दाल-सब्जी, जो कुछ भी जुटे; वही···।

लेकिन बीस साल पुरानी इस घटना का एक अंश-मात्र सुनाकर ही क्या पूरी बात समझाई जा सकती है ? पाँच सौ मील की दूरी पर अवस्थित बिलासपुर की रेलवे-कॉलोनी के इस बी-टाइप क्वार्टर में बैठकर भी मानो मैं अंधकार को भेद कर आ रही शंख-ध्वनि को सुन पा रहा हूँ। तो क्या बीस साल पहले की आवाज को यहाँ तक पहुँचने में इतना समय लगना चाहिए ! उसके बाद तो न जाने कितने देश, कितनी नदियाँ और कितने पहाड़ चुपचाप लाँघकर मैं यहाँ आ पहुँचा हूँ। लेकिन उस दिन की वह मर्मान्तिक घटना आखिर मैं भूल कैसे गया था···?

तो फिर शुरू से ही पूरा किस्सा बयान करता हूँ।

सचमुच यह घटना बीस साल पुरानी तो होगी ही। मैं एक दिन ट्रेन में बैठकर कृष्ण नगर जा रहा था। हठात् एक छोटी-सी स्टेशन पर हमारी ट्रेन रुक गई। सुना गया कि ट्रेन और आगे अब नहीं जायेगी। ट्रेन जहाँ-की-तहाँ खड़ी थी। ट्रेन कल भी जा सकती है, परसों भी जा सकती है या फिर उसके बाद वाले दिन। इच्छामती नदी में बाढ़ आ गई थी और आगे काफी दूर तक रेल की पटरियाँ बाढ़ के पानी में डूब गई थीं। जब तक बाढ़ का पानी निकल न जाये, तब तक कुछ नहीं कहा जा सकता।

ट्रेन के यात्री अपना-अपना माल-असबाब लेकर ट्रेन से उतर पड़े।

वह एक छोटी-सी स्टेशन थी। न ही वहाँ का प्लेटफार्म बढ़िया था और न ही था वहाँ कोई वेटिंग-रूम। कोई कुली भी नजर नहीं आ रहा था। स्टेशन पर एक छोटा-

सा घर था, जिसमें स्टेशन-मास्टर का दफ्तर था। कंकड़ों से पटे प्लेटफार्म पर आखिर रात कैसे बिताई जा सकती थी !

स्टेशन-मास्टर टेलीफोन पर बातें करने में ही व्यस्त थे। किसी यात्री के साथ बात करने की उन्हें फुर्सत ही नहीं थी।

हाथ हिलाते हुए उन्होंने कहा—इस समय मरने का भी वक्त नहीं है साहब। तीन अप गाड़ियाँ और दो डाउन गाड़ियाँ इस सेक्शन में अटकी पड़ी हैं।

उसके बाद पास के टिफिन-कैरियर की तरफ इशारा करते हुए उन्होंने कहा—खुद अपनी आँखों से देख लीजिए। घर से हलुआ बनाकर भेजा गया है, लेकिन अब तक मैं उसे खा नहीं सका।

यह कहकर स्टेशन-मास्टर फिर टेलीफोन पर जोर-जोर से चीखने लगे—हैलो, हैलो···।

चारों ओर अँधेरा-सा छा गया। शाम हो गई थी। इस जगह रात बितानी पड़ेगी, यह सोचकर ही मैं काँप उठा। आज शनिवार का दिन था। दोपहर के वक्त मैं सियालदह से ट्रेन में बैठा था। अब फिर लौटकर सोमवार को दफ्तर में हाजिरी देनी होगी।

प्लेटफार्म पर खड़ा-खड़ा मैं इन्हीं विचारों में डूबा हुआ था। हठात् स्टेशन के एक कोने पर एक बोर्ड पर बड़े-बड़े अक्षरों में 'भैरवगंज' लिखा हुआ देखते ही मुझे कुछ याद आ गया।

भैरवगंज।

तो यह भैरवगंज स्टेशन है ! इसी भैरवगंज में ही तो मल्लिक महाशय का मकान है। मल्लिक दा ने कितनी ही बार मुझे भैरवगंज आने का न्योता दिया था। लेकिन यहाँ आना कभी मुमकिन हुआ ही नहीं। उनके गाँव का नाम तक मुझे याद था। छुटीपुर···। इसी छुटीपुर से मल्लिक महाशय डेली पैसेंजरी किया करते थे।

मल्लिक दा कहा करते—तुम्हें तो छुटीपुर आने की कभी फुर्सत ही नहीं मिली विमल···। जो भी हो, लेकिन मीनू की शादी के समय मैं तुम्हारी बहानेबाजी कतई नहीं सुनूँगा।

मैं जवाब देता—मैं जरूर आऊँगा मल्लिक दा। आप देख लीजिएगा कि मीनू की शादी के समय मैं जरूर आपके गाँव आऊँगा।

उसके बाद मल्लिक दा हताश होकर कागज-पत्तर उलटते हुए कहते—हाँ, तुम खूब आओगे शादी में ! तुम्हारी फाँकीबाजी क्या मैं समझता नहीं ?

सचमुच, कितने ही बेकार के कामों के लिए मैं कितनी ही जगहों में गया हूँ। लेकिन मल्लिक दा के गाँव छुटीपुर में जाना मेरे लिए मुमकिन हुआ ही नहीं। हठात् इतने दिनों के बाद भैरवगंज स्टेशन के प्लेटफार्म पर खड़े-खड़े मल्लिक दा की वे सारी बातें याद आ गईं।

स्टेशन के पीछे बीड़ी-पान की एक छोटी-सी दुकान थी। वहीं जाकर मैंने पूछताछ की।

उसने कहा—छुटीपुर ? छुटीपुर यहाँ से करीव एक मील की दूरी पर होगा। आप पेंपुलवेड़िया का कच्चा रास्ता पकड़कर सीधे चले जाइए।

मुझे जोरों की भूख लग रही थी। एक मिठाई की दुकान में जाकर मैंने भरपेट मिठाई खा ली।

उसके वाद लोगों से पूछ-ताछ करता हुआ मैं छुटीपुर गाँव के लिए रवाना हुआ। साँझ का अँधेरा क्रमशः गहरा होता जा रहा था। दोनों तरफ के खेतों में धान के पौधे लहरा रहे थे। खेतों में पानी लवा-लव भरा हुआ था। वीचों-वीच फिसलन-भरा कच्चा रास्ता था। आसमान पर काफी ऊँचाई पर पक्षियों का एक झुण्ड उड़कर दक्षिण की तरफ वढ़ा जा रहा था। सामने की अमराई से गायों का एक झुण्ड निकलकर जंगल की तरफ चला गया। आखिरकार जव मैं छुटीपुर पहुँचा, उस समय खासा अँधेरा छा चुका था।

मैंने एक हलवाहे से पूछा—क्या तुम वता सकते हो भाई कि मल्लिक महाशय का घर कौन-सा है ?

उस हलवाहे ने वताया—यह है मालो-पाड़ा। मल्लिक महाशय रहते हैं पूरवी-पाड़े में। इस वांस-वन के किनारे-किनारे जाने पर आपको मिलेगा वारोयारीतल्ला। उसकी दाहिनी तरफ जाने पर ही आप पूरवी-पाड़े में पहुँच जायेंगे।

चलते-चलते मैं सोच रहा था—न वात न चीत और मैं आ पहुँचा हूँ मल्लिक दा के छुटीपुर गाँव में। मल्लिक दा तो सचमुच मुझे देखते ही हैरान रह जायेंगे। एक समय उन्होंने जिद की थी कि मैं एक वार उनके गाँव में जरूर आऊँ। उस समय यहाँ आना मुमकिन नहीं हो पाया। जव मल्लिक महाशय दफ्तर से रिटायर हुए—उनका फेयरवेल किया गया—उस समय भी मैंने उनसे वायदा किया था कि मैं उनकी लड़की मीनू की शादी में जरूर आऊँगा।

मल्लिक दा कहा करते—तुम एक दिन पहले ही खवर दे देना। मैं तुम्हारे लिए पोखरे से मछलियाँ पकड़वाकर रखूँगा। और मिठू हलवाई से कहकर तुम्हारे लिए कुछ राजभोज भी वनवा लूंगा और फिर तुम मीनू का गाना भी सुन सकोगे।

ताज्जुव की वात है ! इसी रास्ते से गुजरकर और डेली-पैसेंजरी करते हुए किस तरह मल्लिक दा वत्तीस सालों तक नौकरी करते रहे थे। उन्हें सुबह सात वजते ही घर से निकल जाना पड़ता था और वे फिर दफ्तर से घर लौटते थे रात के आठ वजे। और इसी वीच उन्हें ईंटें तैयार करानी पड़ती थीं, मकान वनवाना पड़ता था, पोखरा खुद-वाना पड़ता था और खेत-खलिहान की देखभाल करनी पड़ती थी।

मेरे साथ उनकी इतनी घनिष्ठता कैसे हो गई थी, पता नहीं। वैसे देखा जाये तो मैं उनके लड़के की उम्र का था।

मुझे याद है कि पहले ही दिन उन्होंने मुझसे कहा था—तुम्हारे हाथों में यह कैमरा है क्या विमल ? क्या तुम फोटो खींच सकते हो ?

उसके वाद उन्होंने कहा था—तो भाई हमारी मीनू की भी एक फोटो उतार दो न ! उसे फोटो उतरवाने का वड़ा शौक है। एक दिन तुम हमारे गांव चलो। जो भी पैसे

खर्च होंगे, मैं करूंगा।

भूधर बाबू कहते—मल्लिक महाशय, आप तो मीनू-मीनू की इतनी रट लगा रहे हैं। लेकिन लडकियों का क्या? लडकियाँ तो शादी होने ही परायी हो जाती हैं।

उधर से सुधीर बाबू कहने लगते—भाई, मेरे दामाद का तो कुछ हाल न पूछो। लड़की को जितनी भी बार बच्चा होने वाला होगा, मेरे घर पर भेज देंगे। और लड़की भी वैसी ही है। यहाँ आती है, सो ठीक है। लेकिन आवेगी खाली हाथ। मामूली-सी तनख्वाह है मेरी। किस-किस तरफ सँभालूँ मैं?

सनातन बाबू कहते—क्या यह कहावत आपने नहीं सुनी—'जम, जँवाई, भगना—तीनों नही अपना!' यानी यमराज, दामाद और भानजे—ये कभी भी अपने नहीं होते।

मैं यह साफ-साफ समझ पाता था कि मल्लिक दा इन बातों को सुनकर अप्रसन्न ही होते थे। वे धीरे से कहा करते—जयन्त क्या वैसा लड़का है भला? लड़का क्या है, हीरा है, हीरा! लाखों में एक···।

मैं पूछता—तो आपकी लड़की की शादी हो गई है क्या?

मल्लिक महाशय जवाब देते—सो एक तरह से शादी हुई ही समझो। सीतानाथ बाबू से कहकर मैंने ही तो उसे इच्छापुर मे नौकरी दिला दी थी। वहाँ से उसकी बदली हुई है जबलपुर मे। अब और एक प्रमोशन मिलते ही वह सीधा अफसर बन जायेगा।

मैं कहता—फिर भी शादी कर डालने में क्या हर्ज है?

मल्लिक महाशय कहते—मैं भी तो यही कहता हूँ। उस बार यही बात कहने के लिए मैं दफ्तर से छुट्टी लेकर जबलपुर गया था। खूब बढ़िया शहर है जबलपुर। जयन्त को साहबों का बँगला मिला हुआ है। खाना बनाने के लिए नौकर-चाकर हैं। मैंने कहा—यह सब हंगामा करने की तुम्हे क्या जरूरत है? जब मीनू यहाँ चली आयेगी, तो चार दिनों मे ही घर का चेहरा पलट जायेगा। तुम्हारे संसार में कोई नही है, फिर तुम भला किसकी परवाह करोगे? सो जयन्त ने क्या जवाब दिया, जानते हो?

मैं पूछता—क्या?

—जयन्त ने मुझसे कहा कि वह रुपये जमा कर रहा है। शादी मे वह मुझे एक पैसा भी खर्च करने नही देगा।

—आपने क्या कहा?

—मैं भला और क्या कहता? मैं जबलपुर से लौट आया। सो तुम क्या समझते हो कि कुछ भी खर्च किये बिना मैं रह सकता हूँ? मैंने तो यहाँ पूरी तैयारी कर रखी है। उस दिन मैंने जो ईंटें तैयार करवाई हैं, वह तो मेरे दामाद के लिए मकान बनवाने के लिए ही। पूरी तैयारी हो चुकी है विमल। पलंग, आलमारी, ड्रेसिंग-टेबुल और सोलह भरी के सोने के जेवर—सभी कुछ तैयार हैं। बर्तन और कपड़े तक खरीद चुका हूँ। मीनू की माँ आज जिन्दा नही है। जो कुछ करना है, मुझे ही करना है। मैं अपने मुँह से भला क्या कहूँ? तुमने दूल्हे तो बहुत-से देखे होंगे। पर जयन्त की बात कुछ अलग ही है। मीनू की शादी के समय तुम खुद जयन्त को देख सकोगे। मैं शादी में तुम्हें

जरूर निमन्त्रण-पत्र भेजूँगा।

सुधीर बाबू मुझसे कहते—तुम क्या इस बुड्ढे की बातों पर विश्वास करते हो विमल ? पाँच वर्षों से इनके मुँह से इसी तरह की बातें सुनता आ रहा हूँ। मैंने कितनी ही बार मल्लिक दा से कहा है—एक बढ़िया लड़का मेरी नजर में है। आप अपनी लड़की की शादी उसके साथ कर दीजिए। आपकी लड़की बहुत सुन्दर है। लड़का वाले एक पैसा भी नहीं लेंगे। लेकिन मल्लिक दा ने मुझसे कहा—नहीं भाई, मेरी लड़की के लिए तो लड़का ढूँढ़ा हुआ ही है। वही जयन्त...।

एक दिन मैंने मल्लिक दा से सरासर कह ही दिया—अच्छा मल्लिक दा, भगवान न करे—लेकिन आखिरकार जयन्त यदि शादी करने से इनकार कर दे तो ? इतने दिन तो हो गये...!

लेकिन मल्लिक महाशय को जयन्त के ऊपर पूरा भरोसा था। उन्होंने कहा—यह तुम क्या कह रहे हो विमल ? क्या मैं जयन्त को जानता नहीं ? मैंने ही उसे आदमी बनाया है। बचपन ही में उसके माँ-बाप गुजर गये थे। मैं अगर उसकी देखभाल नहीं करता, तो क्या वह जिन्दा भी रह पाता ? स्कूल में फीस देकर पढ़ाना-लिखाना और पढ़ाई पूरी होने के बाद नौकरी दिलवाना—सभी कुछ मैंने किया है। और फिर उसका धर्म उसके साथ है। आखिर सिर के ऊपर भगवान भी है, यह बात मानते हो तो ?

सुधीर बाबू भी सारी बातें सुन रहे थे। बोले—सब कुछ सुन लिया तो विमल ? अब बताओ, अब तुम क्या जवाब दोगे ?

उसके बाद कुछ रुककर सुधीर बाबू ने कहा—इनकी लड़की लेकिन बड़ी ही रूपवती और गुणवती है। बिलकुल माँ लक्ष्मी की प्रतिमा है...। मैं तो एक बार मल्लिक दा के घर पर जाकर उसे देख आया हूँ। जयन्त को गाना पसन्द है, तो इन्होंने मास्टर रखकर लड़की को गाना सिखाया है। जयन्त को तरह-तरह के व्यंजन खाने का शौक है, सो इन्होंने लड़की को तरह-तरह के व्यंजन बनाने की शिक्षा दिलवाई है।

एक दिन मैंने मल्लिक दा को बहुत ही तन्मय होकर पत्र लिखते देखा।

पास जाने पर वे मुझसे बोले—यह देखो, जयन्त को मैंने आज फिर चिट्ठी लिखी है।

मैंने पूछा—क्या पहले की चिट्ठी का जवाब आया है ?

वे बोले—जवाब नहीं आया है, इसीलिए तो फिर से चिट्ठी लिख रहा हूँ।

—आखिर जयन्त आपकी चिट्ठियों का जवाब क्यों नहीं देता ?

—सो भाई, वह हम लोगों की तरह किरानीगिरी की नौकरी तो करता नहीं। उसे अपने काम में बेहद व्यस्त रहना पड़ता है। चिट्ठी लिखने का उसे वक्त ही नहीं मिलता होगा।

फिर भी मैं सोचता कि आखिर जयन्त मल्लिक दा की किसी भी चिट्ठी का जवाब क्यों नहीं देता।

इसी तरह एक दिन मल्लिक बाबू के रिटायर होने का दिन भी आ गया। चन्दा उगाह कर मल्लिक दा का फेयरवेल किया गया। फेयरवेल के समय मल्लिक महाशय की

आँखों में आँसू आ गये थे। बत्तीस वर्षों का साथ छूटने पर तकलीफ होना स्वाभाविक था ही। मुझे एक कोने में ले जाकर उन्होंने चुपचाप कहा—मीनू की शादी में किन्तु तुम्हें आना ही पड़ेगा।

मैं ताज्जुब में पड़ गया था। मैंने पूछा—शादी की तारीख पक्की हो गई है क्या?

—बस, तारीख पक्की करना ही बाकी है। वैसे शादी हुई ही समझो। उन लोगों को आसानी से छुट्टी भी कहाँ मिलती। शादी के लिए छुट्टी चाहिए, फिर भी वे लोग छुट्टी देने में खींच-तान कर रहे हैं। सो कहा नहीं जा सकता, किसी भी दिन जयन्त हाजिर हो सकता है और कह सकता है—इसी क्षण शादी कर दीजिए। मर-पच कर किसी तरह एक दिन की छुट्टी मिल पायी है।

मैंने कहा—क्या एक दिन में आप सारी तैयारी कर लेंगे?

मल्लिक महाशय ने हँसते हुए कहा था—तैयारी तो की हुई है भाई। बेटी की सुहाग-शय्या का भी बन्दोबस्त हो चुका। बस कच्ची खरीददारी बाकी है। सो मेरा भतीजा आदिनाथ तो है ही। वह सारा इन्तजाम कर लेगा।

ये सारी बातें हैं पाँच साल पहले की। मल्लिक महाशय के रिटायर करने के बाद पाँच साल बीत गये थे। इस बीच मल्लिक महाशय के साथ मेरी मुलाकात हुई ही नहीं। सिर्फ यह सुनने में आया था कि वे अभी तक जीवित हैं। बस यहीं तक···।

मैं सोच रहा था—इतने दिनों के बाद हठात् मुझे देखकर मल्लिक दा न जाने क्या कहेंगे!

लेकिन पूरबी-पाड़े तक पहुँचने में मुझे ज्यादा समय नहीं लगा। दूर-दूर पर घर बने हुए थे और चारों तरफ घने पेड़ खड़े थे। अँधेरा भी बहुत गहरा हो गया था। दूर के किसी मकान से शहनाई की आवाज आ रही थी। रह-रहकर शंख-ध्वनि आकाश में गूँज रही थी। ऐसा लगा मानो कोई उत्सव चल रहा था।

मल्लिक दा के घर के सामने जाकर पुकारते ही एक लड़का बाहर निकल आया।

जब मैंने उससे मल्लिक दा के बारे में पूछा, तब उसने कहा—मल्लिक महाशय? वे तो बीमार हैं।

—बीमार? यानी···?

मुझे ऐसा लगा मानो वह लड़का कुछ बताने में हिचकिचा रहा था।

उस लड़के ने मुझसे पूछा—आप कहाँ से आ रहे हैं?

मैंने कहा—मैं कलकत्ते से आ रहा हूँ। तुम जाकर मल्लिक महाशय से कहो कि कलकत्ते से विमल बाबू आये हैं। बी० एन० आर० ऑफिस से ।

ऑफिस का नाम सुनकर मानो वह लड़का उद्विग्न-सा हो गया।

मैंने उस लड़के से पूछा—तुम्हारा क्या नाम है?

—आदिनाथ।

—क्या तुम मल्लिक महाशय के भतीजे हो?

आदिनाथ को बहुत आश्चर्य हुआ। उसने पूछा—आपको यह बात किस तरह मालूम हुई ?

मैंने कहा—मैं सब कुछ जानता हूँ। किन्तु मल्लिक महाशय के साथ मुझे मुलाकात करनी ही पड़ेगी।

—लेकिन···।

आदिनाथ अब भी मानो कुछ दुविधा का अनुभव कर रहा था।

उसने कहा—वे तो आँखों से कुछ देख भी नहीं पाते।

—यह क्या ?

मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा।

—हाँ, चार साल हो चुके हैं। उनकी आँखों की ज्योति जाती रही। वे चुपचाप अपने कमरे में लेटे रहते हैं।

मैंने कहा—जो भी हो। उन्होंने कितनी ही बार मुझे यहाँ आने के लिए कहा था। जब मैं यहाँ आ ही गया हूँ, तो उनसे मुलाकात किये बगैर जाऊँगा नहीं।

आदिनाथ ने फिर भी मानो कोई उत्साह नहीं दिखाया। किन्तु इस बार अँधेरे में भी मैं देख सका था कि आदिनाथ का चेहरा पीला पड़ गया था। लालटेन की मद्धिम रोशनी में मैंने देखा कि आदिनाथ की दोनों आँखें आँसुओं से छल-छल कर रही थीं।

हठात् आदिनाथ जैसे सिसक उठा।

उसने कहा—आप उनसे कुछ भी नहीं कहेंगे। उनका दिल बहुत कमजोर हो गया है। डॉक्टरों ने उन्हें पूरा आराम करने की सलाह दी है। मैं आपके पैरों पर पड़ता हूँ, आप···।

हठात् आदिनाथ के इस व्यवहार से मैं बहुत ही ताज्जुब में पड़ गया। झींगुरों की आवाज एवं दूर किसी मकान से आ रही ढोल और शहनाई की आवाज को सुनकर मानो मैं उस पल अपने समस्त अतीत से विच्छिन्न हो गया था, कट-सा गया था।

आदिनाथ ने कहा—चलिए, आपको ले चलता हूँ। लेकिन मेहरबानी करके आप उनसे कुछ भी कहिएगा नहीं।

मैं यन्त्रचालित-सा आदिनाथ के पीछे-पीछे चलने लगा। सदर दरवाजा पार कर घर के भीतर आने पर भी किसी भी नारी या पुरुष की कोई आवाज सुनाई नहीं पड़ी। मैं आदिनाथ के पीछे-पीछे बढ़ा जा रहा था। मुझे ऐसा लगा कि मानो मैं किसी अनजाने अनन्त की तलाश में मृत्युपुरी के अन्धकारमय गलियारे से होकर गुजर रहा था।

मैंने कुछ आगे बढ़कर आदिनाथ से पूछा—घर पर सब कुशल-मंगल तो है ?

आदिनाथ ने हाथ का संकेत करते हुए फुसफुसाकर कहा—चुप रहिए। काका बाबू सब कुछ सुन लेंगे।

उसके बाद एक कमरे के पास आकर आदिनाथ रुक गया। आदिनाथ ने धीमी आवाज में मुझसे कहा—वे जो कुछ भी कहें, आप 'हाँ' में जवाब देते जाइएगा। मैं आपके पैरों पर पड़ता हूँ। आप मुझे बचा लीजिए।

मैंने कहा—आखिर हुआ क्या है ? मैं तो कुछ भी समझ नहीं पा रहा हूँ।

आदिनाथ ने पहले की तरह ही धीमी आवाज में कहा—मैं बाद में आपको सब .... बताऊँगा। आज काका बाबू की लड़की की शादी है···।

मैंने रुद्ध श्वास होकर पूछा—किसकी शादी है ? क्या मीनू की ?

आदिनाथ मेरे प्रश्न के जवाब में कुछ कहने ही जा रहा था। लेकिन अचानक इसमें बाधा पड़ी। कमरे के भीतर से मल्लिक महाशय की आवाज पड़ी—कौन ? वहाँ कौन बातें कर रहा है ?

आदिनाथ मुझे साथ लेकर कमरे के भीतर चला आया। उसने कहा—मैं हूँ काका बाबू···।

—तुम्हारे साथ और कौन है ? तुम किसके साथ बातचीत कर रहे थे ?

—ये मीनू की शादी में शामिल होने के लिए कलकत्ते से आये हैं। आपने इन्हें भी निमन्त्रण-पत्र भिजवाया था। ये बी० एन० आर० ऑफिस में काम करते हैं।

साथ ही साथ मल्लिक महाशय उत्तेजित हो उठे—कौन ? सुधीर ? सनातन ? विमल ?

मैंने आगे बढ़कर कहा—मल्लिक दा, मैं हूँ विमल।

मेरा जवाब सुनते ही मल्लिक महाशय खुशी और उत्तेजना के मारे उठकर बैठने की कोशिश करने लगे। उन्होंने कहा—विमल ! विमल, तुम आये हो ? और वे लोग नहीं आये—सुधीर, सनातन ··?

आदिनाथ ने स्थिति को सँभालते हुए कहा—इन्होंने बताया है कि सुधीर बाबू और सनातन बाबू भी शादी में आना जरूर चाहते थे, लेकिन उन्हें दफ्तर से छुट्टी नहीं मिल सकी।

मैंने कमरे के भीतर चारों तरफ गौर से देखा मल्लिक महाशय एक खाट पर चित्त होकर लेटे हुए थे। उनके बदन पर चादर ढकी हुई थी। सिरहाने एक टेबुल के ऊपर लालटेन जल रही थी। टेबुल पर दवाओं की बहुत-सी शीशियाँ भी सजी हुई थी। और एक तरफ पानी से भरा हुआ एक गिलास भी रखा हुआ था।

मैंने बातचीत का सिलसिला जारी रखने के लिए कहा—आपकी आँखें खराब हो गई हैं, यह तो मैं जानता नहीं था।

मल्लिक महाशय हँस पड़े। बोले—काफी उम्र हो चुकी। अब तो राम जी के घर जाने का समय भी आ पहुँचा विमल। लेकिन इस बात का मुझे कोई अफसोस नहीं। मेरी मीनू बिटिया की आखिरकार शादी हो रही है इसी बात से मेरे सारे दुःख मिट गये भैया।

उसके बाद कुछ रुककर मल्लिक महाशय ने फिर कहा—तुम जो मीनू की शादी में आये हो विमल, इस बात से मुझे बेहद खुशी है। तुम्हें निमन्त्रण-पत्र ठीक समय पर मिल गया था तो !

आदिनाथ ने मेरी तरफ देखा।

मैंने कहा—हां, निमन्त्रण-पत्र ठीक समय पर मुझे मिल गया था। मैंने तो आपसे वायदा किया ही था कि मैं मीनू की शादी में जरूर आऊँगा।

मल्लिक महाशय ने इस बार कहा—बेटे आदिनाथ, विमल बाबू को पहली ही पंगत में खिलाने की व्यवस्था कर दो। इन्हें जाकर ट्रेन पकड़नी होगी।

न जाने क्यों, मेरे मुँह से निकल गया—मैं खा चुका हूँ मल्लिक दा।

मानो मल्लिक महाशय को भारी तसल्ली हुई। उन्होंने कहा—बहुत अच्छा भाई। कहो तो, माँस कैसा बना था? और मिठू हलवाई के राजभोग?

मैंने कहा—बहुत बढ़िया, लाजवाब...।

मल्लिक महाशय ने पूछा—आदिनाथ, तुमने खुद अपने हाथों से विमल बाबू को खिलाया है तो?

आदिनाथ ने झट-पट कहा—हाँ-हाँ, काका बाबू। मैंने खुद अपने हाथों से खिलाया है।

मल्लिक दा ने फिर मुझसे पूछा—दूल्हा कैसा लगा विमल? जयन्त को तुमने देखा तो? कहो तो, कैसा है मेरा यह दामाद? उस समय तो तुम लोग सब मेरा मजाक उड़ाया करते थे। तुम लोग कहा करते थे कि जयन्त शादी करने से इनकार कर देगा। लेकिन सिर के ऊपर भगवान तो है, यह बात मानते हो तो? तुम लोग आजकल के नौजवान भगवान को मानते नहीं। लेकिन मेरा तो बचपन से ही भगवान पर असीम विश्वास रहा है।

उसके बाद कुछ रुककर मल्लिक महाशय ने कहा—जिस मकान में बैठकर तुमने खाना खाया है, उसी में शादी की व्यवस्था करनी पड़ी है। वह मकान मैं बेटी-जँवाई को दे जाऊँगा। और यह मकान है हम लोगों का पैत्रिक मकान। तबीयत ठीक नहीं होने के कारण ही मैं शादी के शोर-गुल के बीच गया नहीं। मैंने आदिनाथ से कहा कि मुझे यहीं एकान्त में रहने दो। सो आदिनाथ ही शादी का सारा काम सँभाल रहा है।

मैंने कहा—सो आपने ठीक ही किया है।

मल्लिक महाशय ने कहा—देखो भाई, मुझे भगवान पर पूरा भरोसा था। इसी-लिए मैं हमेशा विश्वास किया करता था कि जयन्त जरूर इस शादी के लिए राजी होगा। चार सौ रुपयों की तनख्वाह पाता है जयन्त। अभी उसकी उम्र ही क्या है? अब एक डिपार्टमेंटल परीक्षा देने के बाद ही वह सीधा अफसर बन जायेगा। सो जयन्त को मैंने कुछ खर्च करने नहीं दिया है। मुझे अपने प्रोविडेण्ड फण्ड के पच्चीस हजार रुपये मिले थे, यह तो तुम जानते ही होगे। मैंने सारे-के-सारे रुपये मीनू की शादी में खर्च कर डाले।

उसके बाद मल्लिक महाशय ने आदिनाथ को लक्ष्य करके कहा—उधर सब ठीक-ठाक है न, कोई गड़बड़ी तो नहीं? सब तरफ नजर रखना बेटे। देखो, कोई भी खाये बगैर ही न चला जाये! रुपयों की कोई परवाह मत करना बेटे।

आदिनाथ ने कहा—आप बिलकुल निश्चिन्त रहें काका बाबू। मैंने सारी व्यवस्था ठीक-ठीक कर रखी है।

मैं और वहाँ रुक नहीं पा रहा था। मैंने कहा—मल्लिक दा, अब मैं चलूँगा। देर होने पर फिर शायद ट्रेन नहीं मिल सकेगी।

मल्लिक महाशय ने कहा—ठीक है भाई। तुम्हें बहुत तकलीफ उठानी पड़ी।...

आदिनाथ, विमल बाबू के जाने की व्यवस्था कर दो बेटे।

मल्लिक महाशय को उसी एकान्त कमरे में छोड़कर मैं बाहर की ओर बढ़ा। अँधेरे में कदम रखता-रखता मैं सदर दरवाजे तक आ पहुँचा। मुझे ऐसा लग रहा था मानो मेरी साँस ही रुक जायेगी। मैंने देखा कि लालटेन लेकर आदिनाथ भी मेरे पीछे-पीछे चला आया था।

आदिनाथ की भी मानो वाणी अवरुद्ध हो गई थी।

मैंने आदिनाथ को देखा। उसकी आँखें आँसुओं से तर-ब-तर थीं।

मैंने कुछ कहने की कोशिश की। लेकिन मैं कुछ भी कह नहीं सका।

आखिरकार आदिनाथ ने ही चुप्पी तोड़ी। उसने मुझसे कहा—देखिए, आप किसी से कुछ भी कहिएगा नहीं।

तब तक मैं रास्ते में चला आया था। घनघोर अंधकार था। चारों ओर बाँस की झाड़ियाँ थीं और था जंगल। कहीं भी कुछ स्पष्ट देख नहीं सका। दूर के किसी मकान से ढोल और शहनाई की आवाज आ रही थी। बीच-बीच में शंख भी बज रहा था। मुझे ऐसा लगा कि मानो शहनाई से विसर्जन का सुर ही निकल रहा था।

हठात् मैंने अपना मुँह घुमाया।

आदिनाथ भी मेरी तरफ देखता हुआ खड़ा हो गया।

उसने कहा—क्या आप सचमुच खाकर नहीं जायेंगे?

मुझे याद है कि मैंने आदिनाथ के दोनों हाथ पकड़ कर कहा था—तुम बुरा मत मानना भाई। इस वक्त मुझे खाने के लिए मत कहो···। मैं तुमसे माफी चाहता हूँ···।

—आखिरकार गरीब की कुटिया में भात-दाल-सब्जी, जो कुछ भी जुटे, वही···।

मुझे याद है कि उस दिन मैं मल्लिक महाशय के घर से बिना खाये ही चला आया था। बारोयारीतल्ला तक आदिनाथ मेरे साथ-साथ ही आया था। वह मुझे स्टेशन तक पहुँचा देना चाहता था। लेकिन मैंने ही उसे मना कर दिया था।

मैंने कहा—आदिनाथ, तुम्हें मेरे साथ चलने की जरूरत नहीं। तुम जाकर मल्लिक महाशय की देख-भाल करो···।

आदिनाथ ने कहा—लेकिन काका बाबू को पता चलने पर वे मुझ पर नाराज होंगे।

—लेकिन तुम उन्हें बताओगे ही क्यों?

इस बात का आदिनाथ ने कोई जवाब नहीं दिया।

मैंने कहा—अच्छा, चलो शादी के मण्डप में चलें। मैं खाऊँगा तो नहीं, लेकिन जब इतनी दूर आ ही गया हूँ, तो जयन्त और मीनू को आशीर्वाद देकर ही जाऊँगा।

आदिनाथ की आँखों में आँसू आ गये। उसने कहा—मीनू की शादी जयन्त के साथ नहीं हो रही है।

मैंने चौंकते हुए पूछा—यह क्या कह रहे हो तुम?

—हाँ, मैं ठीक ही कह रहा हूँ। काका बाबू ने कहा था कि बी० एन० आर० ऑफिस के सुधीर बाबू, सनातन बाबू और विमल बाबू को निमन्त्रण-पत्र भेज दो। फिर

भी मैंने निमन्त्रण-पत्र नहीं भेजे। फिर काका वावू से मैंने झूठ ही कह दिया कि निमन्त्रण-पत्र भेज दिये गये हैं।

यह सव सुनकर मुझे वड़ा अचरज हुआ। मैंने पूछा—तो क्या जयन्त ने आप लोगों की किसी भी चिट्ठी का जवाव नहीं दिया?

आदिनाथ ने कहा—नहीं, जयन्त ने काका वावू की एक भी चिट्ठी का जवाब नहीं दिया था।

—क्या वह जवलपुर में ही है? तुम एक वार वहाँ गये क्यों नहीं?

—मैं वहाँ गया था। लेकिन जयन्त से मुलाकात ही नहीं हुई।

—क्यों?

—उसके नौकर ने मुझे घर में घुसने ही नहीं दिया। दो काले-काले कुत्ते मुझे काट खाने के लिए दौड़ पड़े थे।

—उसके नौकर ने आखिर क्या कहा?

—नौकर ने कहा कि मेम साहव ने मना कर दिया है! मैंने भी सुना कि जयन्त ने एक मेम साहव से शादी कर ली है। एक लड़का भी हो चुका है। और मजे की वात यह कि काका वावू ने ही जयन्त को नौकरी दिलवाई थी, ताकि वह उनका दामाद वन सके।

—उसके वाद?

आदिनाथ ने कहा—उसके वाद और क्या होता? काका वावू तो नासमझ ठहरे। उनका हार्ट भी खराव हो चुका था। उन्हें मैं ये सारी वातें वतला नहीं सका। डॉक्टर वावू ने मना कर दिया था। किन्तु और ज्यादा दिनों तक यह वात दवा कर रखी भी नहीं जा सकती थी। काका वावू के प्राणों की रक्षा के लिए यही रास्ता अपनाना पड़ा। इसके अलावा दूसरा उपाय भी क्या था? मेरी माँ ने मुझे यही युक्ति वतलाई थी।

वारोयारीतल्ला के विशाल वट-वृक्ष के नीचे निर्वोध-सा मैं चुपचाप कुछ क्षणों के लिए खड़ा रहा। आस-पास चारों तरफ वट-वृक्ष के पके फल टप-टप टपक रहे थे। मुझे ऐसा लगा मानो वट-वृक्ष के पके फल नहीं टपक रहे थे, टपक रहे थे किसी की आँखों के कीमती आँसू। तो क्या निर्जीव वट-वृक्ष भी सव कुछ समझता था? मैंने देखा कि आदिनाथ तव भी रो रहा था। मुझे मल्लिक महाशय की वात याद आ गई। उन्होंने कहा था कि सिर के ऊपर भगवान तो है, यह वात मानते हो तो!

हठात् मैंने कहा—अव मैं चलता हूँ भाई।

आदिनाथ लालटेन ऊपर उठाकर खड़ा रहा।

लालटेन की रोशनी से सामने का पथ आलोकित हो उठा।

मैं हठात् फिर रुक गया। जिस लड़की को लेकर इतना काण्ड हुआ, इतना सजीव अभिनय किया गया, उसकी व्यथा-कथा के वारे में तो सोचा ही नहीं गया। मल्लिक महाशय की ओर ही सवों ने देखा है। लेकिन उस वेचारी कन्या की वात तो किसी ने सोची नहीं। ढोल, शहनाई और शंख की मंगल-ध्वनि के अन्तराल में क्या वह भी एक अन्यतम अभिनेत्री वनी हुई थी? जयन्त के लिए गीत-संगीत सीखने और तरह-

तरह के व्यंजन बनाने की कला में पारंगत होने की कष्टमयी साधना की क्या यही परिणति होनी थी ? मुझे ऐसा लगा मानो ये वट-वृक्ष के पके फल नहीं टपक रहे थे, टपक रहे थे उस कन्या की आँखों के अश्रु-बिन्दु ही । सिर्फ जयन्त ने ही उसे नहीं ठुकराया था, बल्कि सारी दुनिया ने ही मानो उसे ठुकरा दिया था ।

आदिनाथ अब तक लालटेन ऊपर उठाये वहीं खड़ा था ।

मैंने आदिनाथ के पास जाकर कहा—और, और···।

आदिनाथ ने मेरी दुविधा को तोड़ते हुए कहा—कहिए न, क्या कहना चाहते हैं ?

—और मल्लिक महाशय की कन्या ? क्या वह सब कुछ जानती है ?

आदिनाथ ने कहा—आप मीनू की बात कर रहे हैं ! वह भी इस शादी से सहमत है । वह तो काका बाबू की तरह अनाड़ी और नासमझ नहीं । और फिर यह लड़का भी बुरा नहीं है । डेढ़ सौ बीघे की धान की खेती है उसकी । एक बीघा जमीन पर उसका बहुत बड़ा मकान बना हुआ है । खाने-पहनने का कोई अभाव नहीं होगा मीनू को । हाँ, लड़का दूजवर है । पहली स्त्री एक लड़की छोड़ गई है । सो इतने काण्ड के बाद मीनू के लिए एक लड़का जुट गया है—उसकी शादी हो पा रही है, यही क्या मीनू का कम सौभाग्य है ? आप ही कहिए···!

मैंने तो अपने क्वार्टर पर आये लड़कों से कह दिया था कि मैंने जीवन में कभी भी अभिनय नहीं किया । लेकिन मल्लिक महाशय के सामने जो कुछ मैंने किया, वह अभिनय नहीं था तो और क्या था ? मैंने बिलकुल सफेद झूठ कहा था और आदिनाथ एवं उसकी माँ ने भी । यह अभिनय नहीं था तो और क्या था ? और मीनू···! दुल्हन के वेश में सजी-धजी वह भी तो अभिनय ही कर रही थी । संभवतः अपने जीवन का सर्वश्रेष्ठ अभिनय···!

लेख-परिशिष्ट

मैं लेखक नहीं हूँ

मैं नागपुर में आयोजित प्रथम विश्व हिन्दी सम्मेलन में शामिल हुआ था और उसके पश्चात् द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन में भाग लेने के लिए मुझे मॉरिशस भी भेजा गया था। इसके लिए मैं समस्त हिन्दी-भाषियों का हृदय से कृतज्ञ हूँ।

यह मुझे मालूम है कि कलकत्ते से ही हिन्दी का पहला समाचार-पत्र प्रकाशित हुआ था। श्री भूदेव मुखोपाध्याय, जो कि एक 'इन्सपेक्टर ऑफ स्कूल्स' थे; बंगाल, बिहार और उड़ीसा के छात्रों से कहा करते थे—तुम लोग हिन्दी पढ़ो। उन दिनों बंगाल, बिहार और उड़ीसा एक ही राज्य था। भूदेव बाबू पहले अपने-आप को एक भारतवासी समझते थे, बाद में बंगाली। कलकत्ते से ही श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय ने तीन प्रसिद्ध मासिक पत्रिकाओं का प्रकाशन आरम्भ किया था। वे पत्रिकाएँ थीं—'प्रवासी' (बँगला भाषा में), 'माडर्न रिव्यू' (अँग्रेजी भाषा में) और 'विशाल भारत' (हिन्दी भाषा में)। 'प्रवासी' में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की बहुतेरी रचनाएँ छपा करती थीं। 'माडर्न रिव्यू' भारत के प्रतिनिधि-मासिक के रूप में विश्व-विख्यात था। 'माडर्न रिव्यू' में भारत-प्रेमी सी० एफ० एण्ड्रूज (C. F. Andrews) और जे० टी० सन्डर्लैण्ड (J T. Sunderland) जैसे लोग लिखा करते थे। भारत की अवस्था के सम्बन्ध में जे० टी० सन्डर्लैण्ड ने 'माडर्न रिव्यू' में धारावाहिक लेख लिखा, जिसका शीर्षक था—'The Lawless Law' (कानून रहित कानून)। बाद में जब यह पुस्तकरूप में छपा, तो तत्कालीन अँग्रेज सरकार ने इस पुस्तक को जब्त कर लिया। इंग्लैण्ड में सी० एफ० एण्ड्रूज के बहुत-से ऐसे धनी भक्त थे, जो उन्हें मनमाना धन दे सकते थे। फिर भी सी० एफ० एण्ड्रूज ने फटेहाली का जीवन व्यतीत करना पसन्द किया। इंग्लैण्ड की जहाज कम्पनियों के मालिकों का निर्देश था कि सी० एफ० एण्ड्रूज को या उनके द्वारा अनुशासित किसी भी व्यक्ति को बिना किसी भी खर्च के यात्रा करने की सुविधा दी जाये। सी० एफ० एण्ड्रूज के दो ही स्थायी निवास-स्थान थे—शान्तिनिकेतन और गांधी जी का साबरमती-आश्रम। उन्होंने एक किताब लिखी थी—"What I Owe to Christ"। यह किताब खूब बिकी और उन्हें रुपये भी खूब मिले। लेकिन ये सारे रुपये उन्होंने एक अनजान छात्र को उच्च शिक्षा के लिए 'आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी' में भेजने में खर्च कर दिए।

श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय ने 'विशाल भारत' नाम का जो हिन्दी-मासिक निकाला था, उसके सम्पादक थे पूज्य बनारसी दास चतुर्वेदी। मैं तीनों पत्रिकाएँ ही पढ़ा करता था। मुझे अभी तक याद है कि पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी, भगवती चरण वर्मा और निराला जी की रचनाएँ मैं खूब पसन्द किया करता था। पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी का तो मैं उसी समय से भक्त बन गया। उनका उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' मेरा एक प्रिय उपन्यास है। जब मॉरिशस में पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी से मेरी भेंट हुई और मैंने उन पुरानी बातों की चर्चा की तो वे बहुत प्रसन्न हुए थे।

उस वक्त से ही मेरे मन में यह साध पनपने लगी थी कि मैं लेखक बनूंगा। समय के एक लम्बे अन्तराल के बाद आज मैं सोचता हूँ कि क्या सचमुच मैं एक लेखक बन पाया हूँ? शरत् बाबू की एक उक्ति याद आ रही है। उन्होंने कहा था—'दुनिया में दो पैर होने पर ही चला जा सकता है, लेकिन दो हाथ होने पर ही लेखक नहीं बना जा सकता।' सच पूछिये तो मैं भी लेखक कहाँ बन पाया हूँ? हरेक साल ही दिल्ली की कालीबाड़ी के मित्रगण दुर्गा-पूजा के अवसर पर अपनी वार्षिक पत्रिका के लिए मेरे लेख की माँग करते हैं मेरी भी हर साल यही इच्छा रहती है कि मैं उनकी पत्रिका के लिए कोई विशेष महत्त्व की मौलिक रचना लिख भेजूं। लेकिन हरेक साल मेरा वह संकल्प कोरा संकल्प ही साबित होता है, कभी भी वह कार्य-रूप में परिणत नहीं हो पाता। यहाँ तक कि उनकी चिट्ठी का मैं जवाब भी नहीं दे पाता हूँ।

किसी भी चिट्ठी का जवाब न देना एक अक्षम्य अपराध है, यह औरों की भाँति मैं भी समझता हूँ। फिर मैं हमेशा यह अपराध करता हूँ और मन-ही-मन इसके लिए दुखी भी होता हूँ। मैं यह अपराध क्यों करता हूँ, इसे समझने का मौका मेरे दूरस्थ मित्रों को कभी मिला भी नहीं। इसी वजह से वे भी मन-ही-मन मुझे भला-बुरा कहते हैं। शायद वे मुझे घमंडी और अर्थ-लोलुप भी समझते होंगे।

लेकिन संसार में 'आलसी' जाति के आदमी भी होते हैं, इस बात से कोई भी अपरिचित नहीं होगा। मैं भी उसी जाति का एक आदमी हूँ। और मैं जो उस 'आलसी' जाति के लोगों का शिरमौर हूँ, इस बात का आविष्कार संभवतः सबसे पहले मेरे पिता ने ही किया था।

बचपन में मेरे पिता जी अक्सर कहा करते—यह लड़का आलसियों का बादशाह है, इससे कुछ भी नहीं होगा।

पिता जी की दूरदृष्टि कैसी सटीक थी, यह सोच-सोचकर मैं आज भी हैरान रह जाता हूँ। कारण यह कि पिता जी की प्रत्येक भविष्यवाणी अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई है।

पिता जी यह भी कहते—इतना मुंहचोर होने पर तुम जीवन में उन्नति कैसे करोगे?

मैं उन्नति करना चाहता ही नहीं, यह बात मैं उस दिन पिता जी को समझा नहीं सका था। पिता जी की नजरों में उन्नति का मतलब था मोटी तनख्वाह की सरकारी नौकरी, कलकत्ता में एक मकान और साथ-ही-साथ एक गाड़ी। और उन्नति का सबसे बड़ा लक्षण था—एक मोटा बैंक-बैलेंस। इस प्रकार की उन्नति की कामना न

करना पिता जी की निगाहों में एक बहुत बड़ा अपराध था। और सिर्फ मेरे पिता जी ही क्यों, पृथ्वी के सारे पिता अपने पुत्र की इसी तरह की उन्नति की कामना करते हैं।

मेरे पिता जी आज जीवित नहीं हैं। अगर वे जीवित होते तो मेरी यह परगति देखकर निश्चित रूप से खूब ही दुखी होते। कारण यह कि सचमुच ही मेरी उन्नति नहीं हुई।

शुरू-शुरू में उन्होंने सोचा था कि मैं विलायत जाकर बैरिस्टरी की परीक्षा पास करूँ। उनका एक लड़का डॉक्टर बना और एक लड़का इंजीनियर। सबसे छोटे लड़के को बैरिस्टर बनना चाहिए। बात कहने में भी अच्छी लगती थी और सुनने में भी। लेकिन मैंने उनकी पहली आशा पर ही तुषारापात किया था। इसका कारण यह कि मैंने उसी दिन साफ-साफ शब्दों में बता दिया था कि वकील-मुख्तार-बैरिस्टर बनने पर झूठ बोलना होगा। इसलिए यह मेरे लिए नामुमकिन है। पिता जी मेरा तर्क सुनकर हतवाक् हो गये थे, हताशा, क्षोभ और दुख का मानो उन पर पहाड़ टूट पड़ा था। कुछ देर के बाद उन्होंने कहा था—तो फिर तुम चार्टर्ड-एकाउण्टेंसी पढ़ो। इस लाइन में भी बेशुमार रुपये कमाये जा सकते हैं।

पिता जी सही मायने में मेरा भला चाहने वाले थे। इसलिए उन्हें भी ज्यादा दोष नहीं दिया जा सकता। कारण यह कि रुपया ही दुनिया में बड़ा होने का सबसे बड़ा मापदण्ड है, दूसरे पिताओं की भाँति मेरे पिता जी भी यह भली-भाँति समझते थे। मैंने जब उनसे कहा था कि चार्टर्ड-एकाउण्टेन्सी भी एक तरह से हिसाब में गोलमाल कर टैक्स की चोरी करने का तरीका सिखाने की विद्या है, तब मुझे याद है कि वे मन-ही-मन बहुत नाराज हो गये थे।

उन्होंने कहा था—तो फिर तुम बड़े होकर करोगे क्या?

मैंने कहा था—मैं बँगला भाषा में एम० ए० करूँगा।

—बँगला में एम० ए० करके क्या बनोगे? स्कूल-मास्टर?

मैंने कहा था—नहीं, मैं लेखक बनूँगा।

पिता जी ने पूछा था—लेखक बनोगे, इसका मतलब? लेखक होने पर भी तो तुम्हें दिन के वक्त बँधी हुई तनख्वाह की एक नौकरी करनी होगी।

मैंने कहा था—नहीं···। लेखक, यानी सिर्फ लेखक। पूरे वक्त का लेखक, सेंट-परसेंट लेखक··। मैं नौकरी करके पार्ट-टाइम का गुलाम लेखक बनना नहीं चाहता।

पिता जी मेरी बात सुनकर मानो आकाश से नीचे गिर पड़े थे। उन्होंने कहा था—क्या लिखकर कोई लेखक रुपये कमा पाता है? लिखकर भला कोई रुपयेवाला बना है? शरत् बाबू का भला कितना बैंक-बैलेंस था? माइकल मधुसूदन दत्त को रुपयों के अभाव के कारण अस्पताल में बिना इलाज के मरना पड़ा था, यह क्या तुम जानते हो?

पिता जी के सामने मैं इन बातों का कोई सीधा जवाब नहीं दे सका था। मैं कह नहीं सका था कि बैंक-बैलेंस देखकर मैं किसी मनुष्य का मूल्यांकन नहीं करता। बैंक-बैलेंस तो बहुतों के पास होता है। क्या वे सभी मनुष्य होते हैं? और अस्पताल में मरने की विवशता? मरना तो एक दिन होगा ही। तो अस्पताल में बिना इलाज के मरने के

वजाय अपने घर पर डॉक्टरों की दवा खाकर मरने की यन्त्रणा क्या कुछ कम होगी ?

आज इतने दिनों के वाद पुराने दिनों की वे सारी वातें याद आ रही हैं। सच-मुच, पिता जी की दूरदृष्टि गजव की थी।

पिता जी अपने तर्क को सशक्त वनाने के लिए अक्सर कहा करते—दुनिया में वड़ा आदमी वनने के लिए अपना ढोल खुद अपने-आप पीटना होता है। कुर्सी पर आसीन लोगों की तारीफ और खुशामद करनी पड़ती है। झूठ होने पर भी प्रिय वातें कहनी पड़ती हैं। पाँच आदमियों के साथ मिलना-जुलना पड़ता है। तुम तो हो परले सिरे के मुँहचोर, तुम यह सव कैसे कर सकोगे ? तुम कह रहे हो कि तुम लेखक वनोगे। सो इस लाइन में भी जरूर दलवाजी है। तुम्हें सम्पादकों की मक्खनवाजी करनी होगी, प्रकाशकों के दरवाजे पर धरना देना होगा और जो लोग पुरस्कार देते हैं—उनका स्तुति-गान करना होगा। कोशिश-पैरवी के विना तो नोवल पुरस्कार भी नहीं मिलता। तुम्हारे जैसा मुँहचोर आदमी क्या यह सव कर सकेगा ?

मैंने कहा था—मैं यह सव कुछ भी नहीं चाहता। मैं सिर्फ अपने घर में वैठा-वैठा लिखूंगा।

पिता जी ने कहा था—तो फिर तुम्हारा कुछ भी होना नामुमकिन है।

मेरे दिल्ली के मित्र यह सव जानते हैं या नहीं, कह नहीं सकता। अगर वे नहीं जानते तो उनकी जानकारी के लिए कह दूं कि सचमुच ही मेरा कुछ भी नहीं हुआ। किसी दल में शामिल होने की स्वाभाविक प्रवणता नहीं होने के कारण दल में रहने की सुविधाओं से मैं जैसे वंचित हुआ हूँ, वैसे ही दल के वाहर रहने के कारण होने वाली असुविधाओं को मैं पूरी मात्रा में झेलता और भोगता आया हूँ। लेकिन अहंकारी समझा जाने का खतरा मोल लेकर भी मैं कहना चाहूँगा कि पाठक-पाठिकाओं की जरूरत के अनुसार लिखकर लोकप्रियता अर्जित करने की जो राह प्रत्येक साहित्यकार के सामने खुली होती है, अपनी प्रतिष्ठा या स्वार्थसिद्धि के लिए वह सहजतम रास्ता चुन लेने की भूल मैंने कभी नहीं की। और फिर लोकप्रियता कायम रखने के लिए सच्चाई का छद्मवेश धारण कर अपनी सही जिम्मेवारी से कौशल-पूर्वक वच निकलने की कोशिश भी मैंने कभी नहीं की।

और एक वात। आज जो आधुनिक है, कल वही प्राचीन हो जायेगा। और फिर कल जो आधुनिक होगा, परसों वही प्राचीन हो जायेगा। लेकिन शाश्वतता की दृष्टि से आधुनिक या प्राचीन की सारी संज्ञाएँ अर्थहीन हैं। शाश्वत शब्द भी वड़ा भ्रामक हो गया है ! व्यापक प्रयोग के कारण इस शब्द का सही अर्थ विलुप्त होता जा रहा है। आधुनिक आकाश और आधुनिक समुद्र की तरह आधुनिक साहित्य भी कटहल के अमचूर की भाँति ही अवास्तविक है। और भी स्पष्ट करते हुए इसे यूं कहा जा सकता है कि आधुनिकता की संज्ञा जितनी गुणवाचक नहीं, उससे अधिक है कालवाचक। जो वस्तु क्षणभंगुर होती है, उसे लेकर महाकाल कोई सरदर्द मोल नहीं लेता। इसीलिए मैं अपनी रचनाओं में क्षण-काल के वदले चिर-काल की ही सर्वदा पूजा-आराधना करता आया हूँ।

तो फिर चारो तरफ इतनी पत्रिकाओं में मेरी ढेर-सारी रचनाएँ आप जो देखते हैं, उसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि मैं लेखक हूँ। *इसका एकमात्र कारण यही है कि* मेरी रचनाएँ छापने पर पत्र-पत्रिकाओं की बिक्री बढ़ती है। और बिक्री बढ़ने पर ही उन्हें अर्थ-लाभ होता है। प्रकाशकों के मामले में भी यही बात है। प्रकाशक लोग मेरी किताबें छापने के लिए इतने उतावले और *उत्सुक रहते हैं, इसका कारण भी यही है।* मेरी किताबें छापने पर प्रकाशकों का बैंक-बैलेंस बढ़ता है। इसीलिए सुदूर केरल, मैसूर, उड़ीसा, इलाहाबाद, बबई, जयपुर और दिल्ली से आकर प्रकाशक लोग अपनी-अपनी भाषाओं में अनुवाद कर किताबें छापने के लिए मुझसे अनुमति ले जाते हैं। उद्देश्य एक ही है—रुपये कमाने का। लेकिन क्या कोई भी मुझे लेखक के रूप में स्वीकार करता है?

अतएव अपने लेखक-जीवन में मैं स्वयं अपने-आप का चरमतम शत्रु हूँ। और इसी शत्रुता की सबसे बड़ी सहायिका है मेरी लोकप्रियता। इतनी लोकप्रियता नहीं होने पर सम्भवतः मैं एक दिन सचमुच ही सही अर्थों में लेखक हो पाता!

इसीलिए अब सोचता हूँ कि पिताजी जो कुछ कहा करते थे, ठीक ही कहते थे। मेरे जैसे मुँहचोर आदमी का सचमुच कुछ नहीं हो सकता। सचमुच मेरा कुछ हुआ भी नहीं। यह भी सच है कि इस बात का मुझे अफसोस भी नहीं है। आखिर जीवन में कुछ होना ही पड़ेगा, ऐसी कोई अनिवार्यता तो नहीं। आकाश का आकाश होना अथवा समुद्र का समुद्र होना ही क्या पर्याप्त नहीं? लेखक मैं नहीं बन पाया, न सही। मूलतः तो मैं एक मनुष्य ही हूँ। मनुष्य होना ही मेरे लिए पर्याप्त है। क्योंकि तरु-लता सहज ही तरु-लता होते हैं, पशु-पक्षी सहज ही पशु-पक्षी होते हैं; लेकिन मनुष्य अनेक कष्टों के बाद, अनेक यन्त्रणाओं के बाद, अनेक साधनाओं के बाद और अनेक तपस्याओं के बाद मनुष्य बन पाता है। क्या मैं वैसा मनुष्य ही भला बन पाया हूँ।

नहीं भूलतीं यादें रंगीन दिनों की

अपने जीवन की पथ-परिक्रमा के क्रम में क्या मैंने कभी रंगीन दिनों का स्पर्श भी पाया है ? यह प्रश्न पहले कभी किसी ने मेरे सामने नहीं रखा। आज सम्पादक महोदय के इस प्रश्न ने मुझे इस सम्बन्ध में बहुत-कुछ सोचने के लिए विवश कर दिया है।

इस प्रश्न का क्या उत्तर दूं, यह समझ में नहीं आ रहा है।

इतिहास में मैंने पढ़ा है कि अठारहवीं शताब्दी के पहले दशक में जब दिल्ली के बादशाह औरंगजेब की दक्षिण भारत में मृत्यु हुई, तब वे अपने पुत्र के नाम एक पत्र छोड़ गये थे। उस पत्र में उन्होंने जो कुछ लिखा था, वह कुछ इस प्रकार था—"आज मैं अपनी जिन्दगी के आखिरी मुकाम पर आ पहुँचा हूँ। मुझे ऐसा लग रहा है कि मेरी समूची जिन्दगी अशान्ति में ही कट गई। जीवन में मुझे थोड़ी-सी भी शान्ति नहीं मिली। जो कुछ थोड़ा-सा वक्त मैंने अल्लाह की प्रार्थना के लिए नमाज पढ़ने में लगाया है, सिर्फ उसी वक्त मुझे थोड़ी-सी शान्ति हासिल हुई है। मुझे समझ में नहीं आता कि मृत्यु के बाद जब मैं खुदा ताला के पास जाऊँगा, तब मैं क्या जवाब दूंगा !"

मुझे भी ऐसा लगता है कि परलोक में जाकर ईश्वर के सामने मैं क्या जवाब दूंगा।

बचपन की बातों की याद आते ही मैं आतंकग्रस्त हो जाया करता हूँ। गुरुजनों की तरफ से भला क्या मैंने कभी सहानुभूति व्यवहार पाया है ? पिताजी चाहते थे कि मैं चार्टर्ड-एकाउण्टेण्ट बनूं। कहा जाता था कि इस पेशे में बेशुमार रुपये कमाये जा सकते हैं। लेकिन पिताजी की बात अनसुनी कर मैंने बंगला भाषा में एम० ए० किया। द्वितीय विश्वयुद्ध के पहले के दिनों में नौकरी बड़ी मुश्किल से मिलती थी। एक दिन पिताजी मुझे जबर्दस्ती एक टैक्सी में बिठाकर एक सरकारी दफ्तर में ले गये। मुझे आवेदन-पत्र तक नहीं लिखना पड़ा। जो कुछ किया, पिताजी ने ही किया। मुझे बैठने के लिए एक कुर्सी दी गई। और उसी दिन से मैं चाकर बन गया। चाकर होने की यन्त्रणा कैसी मर्मान्तक होती है, यह मैं उसी दिन ठीक-ठीक समझ पाया। अपने जन्म से ही मैं जिस यन्त्रणा की आग में जलता आ रहा था, वह यन्त्रणा सौ-गुनी बढ़ गई। पिताजी ने

कहा—नौकरी मिलना ही मुश्किल होता है, छोड़ने में तो एक मिनट का भी समय नहीं लगता । मैंने तुम्हें नौकरी दिला दी है। मर्जी हो तो नौकरी करते रहो, मर्जी न हो तो नौकरी छोड़ दो…।

एक तरफ थी चाकरी करने की मर्मान्तिक पीड़ा एवं मालिक का हुक्म तामील करने की व्यथा और दूसरी तरफ था लेखन-कार्य के लिए रात्रि-जागरण। साप्ताहिक पत्रिका में धारावाहिक उपन्यास लिखने की यन्त्रणा ने मुझे पागल-सा बना डाला। मैंने सोचा कि अगर मैं लेखक नहीं बन सका तो क्या जिन्दगी भर चाकर बना रहूँगा? चाकर बनकर ही जिन्दगी बिता डालूँगा?

इस तरह की परिस्थितियों में जब मेरा उपन्यास 'साहब बीबी गुलाम' पुस्तक-रूप में निकला, तब बंगला साहित्य की सारी पत्रिकाओं ने मेरे खिलाफ विष-वमन करना शुरू कर दिया। किसी ने कहा कि मैं चोर हूँ और यह उपन्यास मैंने किसी दूसरे लेखक की पुस्तक से चुरा कर लिखा है। किसी ने कहा कि एक गरीब लेखक ने मुझे इस उपन्यास की पाण्डुलिपि पढ़कर देखने के लिए दी थी और मैंने उसे अपने नाम से छपा लिया है। उन्होंने यह भी लिखा कि वह गरीब लेखक अदालत में मेरे खिलाफ मुकदमा करने वाला है। 'साहब बीबी गुलाम' उस जमाने में प्रकाशित होने वाली किताबों की तुलना में काफी मोटी किताब थी। अतएव किसी ने इसकी तुलना ईंट से की तो किसी ने कहा—यह उपन्यास नहीं, यह तो तकिया है। महिलाएँ दोपहर के वक्त आराम करने के लिए तकिये के रूप में इस मोटी किताब का इस्तेमाल करती हैं।

इसके बाद मुझे बेहद गुस्सा आया। मैंने नौकरी छोड़ दी। फिर एक के बाद एक मैंने दुगुने-चौगुने आकार के उपन्यास लिखना शुरू कर दिया। उस वक्त मेरी उम्र थी चालीस साल। नौकरी छोड़ते वक्त मैंने पेंशन लेने से भी इनकार कर दिया। पेंशन लेने का मतलब ही होता जिन्दगी-भर की चाकरी!

विगत 1975 ई० में नागपुर में प्रथम विश्व हिन्दी सम्मेलन अनुष्ठित हुआ था। उस उपलक्ष्य में मैं भी आमन्त्रित होकर नागपुर गया था। वहाँ एक अजीब घटना घटी। एक पुस्तकालय में जाकर भाषण देने के लिए मुझे निमन्त्रित किया गया। जब मेरा भाषण समाप्त हुआ, तब मेरे पास एक वृद्ध सज्जन आये।

उन्होंने कहा—मैं डॉक्टर बनर्जी हूँ। मैं यहाँ नागपुर ही में प्रैक्टिस करता हूँ। आपसे एक बात कहने के लिए मैं यहाँ आया हूँ।

मैंने पूछा—कहिए, क्या बात है?

डॉक्टर बनर्जी ने कहा—यहाँ नागपुर में मेरे एक मरीज हैं। वे एक हिन्दी-भाषी सज्जन हैं। वे एक अरसे से अनिद्रा के रोग से पीड़ित थे। मेरा काम था हर रोज रात के दस बजे उन्हें नींद का इंजेक्शन देकर सुलाना। इसलिए मुझे हर रोज उनके घर पर जाना पड़ता था।

एक दिन मैं ठीक रात के दस बजे उनके घर पर गया। मुझे देखते ही उन्होंने कहा—डॉक्टर साहब, अब मुझे नींद का इंजेक्शन देने की जरूरत नहीं।

मैंने पूछा—क्यों?

मेरे मरीज ने कहा—मैंने एक मोटा उपन्यास पढ़ा है। उसे पढ़ने के वाद मेरा अनिद्रा का रोग दूर हो गया। अव मुझे नींद आने लगी है।

मैंने पूछा—कौन-सा उपन्यास ?

मेरे मरीज ने एक मोटी-सी किताव मेरे सामने वढ़ा दी। मैंने देखा कि वह किताव थी आपके उपन्यास 'कड़ि दिये किनलाम' का हिन्दी अनुवाद—'खरीदी कौड़ियों के मोल'।

डॉक्टर वनर्जी की वातें सुनकर मेरी आँखों में आँसू आ गये—खुशी के आँसू ! मैंने उनसे कहा—डॉक्टर साहव, मेरी किताव पढ़कर आपके मरीज को तो नींद आ गई। लेकिन मेरी नींद हमेशा-हमेशा के लिए उड़ गई है। मुझे हर रोज सोने के पहले नींद की गोलियां खानी पड़ती हैं। साहित्य के लिए मुझे नींद को तिलांजलि देनी पड़ी है···।

सच ही तो ! कुछ दिये वगैर कुछ पाया नहीं जा सकता। सव कुछ देने पर सम्भवतः सव कुछ पाया जा सकता है। लेकिन क्या मैं सव कुछ दे पाया हूँ···?

मुझे पता नहीं कि डॉक्टर वनर्जी अभी भी नागपुर में हैं या नहीं। लेकिन आज अगर मैं अपने जीवन की इस सांध्य वेला में डॉक्टर वनर्जी से फिर मिल पाता तो उन्हें कार्ल मार्क्स की यह उक्ति सुनाना कदापि न भूलता।

कार्ल मार्क्स से एक वार पूछा गया था—'सुख क्या है' ?

कार्ल मार्क्स ने उत्तर दिया था—'संघर्ष'।

सचमुच संघर्ष ही सुख है।

मैंने आजीवन इसी सुख का सान्निध्य प्राप्त किया है। इसे यूँ भी कहा जा सकता है कि मेरे जीवन का हरेक दिन रंगीन दिन रहा है। जिस दिन मेरी कलम रुक जायेगी; उसी दिन मैं समझ लूंगा कि मेरे दिन अव रंगीन नहीं रह गये···!

एक अनकही कहानी

सन् 1933 ई० की बात है। तारीख अथवा दिन मुझे याद नहीं। किन्तु मुझे यह जरूर याद है कि उस समय शाम के सात बजे होंगे। काम हो जाने पर मैं अपने घर की तरफ लौट रहा था। रास्ते में मेरा एक दोस्त आ रहा था। वह भी अपने घर लौट रहा था। उसका नाम था द्विजेन बनर्जी। वह अपने दफ्तर से लौट रहा था और मैं कॉलेज से। दोनों ही एक-दूसरे को देखकर बहुत खुश हुए। बहुत दिनों के बाद हमारी मुलाकात हुई थी। इसीलिए दोनों रास्ते के किनारे खड़े होकर बातचीत में मशगूल हो गये। लगभग घण्टे भर हमारी बातचीत चलती रही।

बातों-बातों में द्विजेन मुझसे पूछ बैठा—अभी तुम्हारी उम्र कितनी हो चुकी, विमल ?

मैंने कहा—इक्कीस वर्ष।

द्विजेन था मुझसे चार साल बड़ा। यानी उस समय उसकी उम्र थी पच्चीस साल की।

हठात् उसने पूछा—अच्छा विमल, बताओ तो, मनुष्य के जीवन की श्रेष्ठ सम्पदा क्या है ?

यह प्रश्न सुनकर मैं तो हैरान रह गया। हम लोगों के जीवन की श्रेष्ठ सम्पदा भला क्या हो सकती है ! मेरी समझ में कुछ भी नहीं आ रहा था। मेरी तरफ से कोई उत्तर न पाकर द्विजेन ने स्वयं ही जवाब दिया। उसने कहा- मनुष्य के जीवन की श्रेष्ठ सम्पदा है दुख। कोई महान् दुख न रहने पर कोई भी मनुष्य महान् नहीं हो सकता। सुकरात, प्रभु यीशु मसीह और तथागत— ये सभी आज भी इसीलिए चिर स्मरणीय हैं कि इनके जीवन में परम दुख था। दुख ने ही उन्हें महापुरुष बनाया है।

द्विजेन का उत्तर सुनकर मानो एक नये सत्य के साथ मेरा साक्षात्कार हुआ।

उसके बाद उसने और एक सवाल कर डाला। अच्छा विमल, बताओ तो पृथ्वी पर सबसे ज्यादा 'पावरफुल' कौन है ?

मैं द्विजेन के सवाल को साफ-साफ समझ नहीं पाया। [illegible]

मतलब यही कि सबसे अधिक शक्तिमान कौन है ?

इस प्रश्न का भला मैं क्या उत्तर देता ? देश का प्रेसिडेण्ट अथवा प्राइम मिनिस्टर ही तो सबसे अधिक शक्तिमान होता है। उन्हीं के हाथ में एटम-बम होते हैं और गोला-बारूद। सभी कुछ…!

द्विजेन ने कहा—अच्छा, मैं ही बता देता हूँ। सबसे अधिक शक्तिमान होता है 'समय'।

'समय'…! द्विजेन की बातों ने मानो मुझे झकझोर डाला था। इतने दिन बीत गये। लेकिन ऐसी बातें तो मुझसे आज तक किसी ने भी नहीं कही थीं।

मेरी मानसिक अवस्था की थाह द्विजेन को मिल चुकी थी। ठीक है, उसकी उम्र मुझसे चार साल ज्यादा थी। फिर भी इतनी बातें उसने कहाँ से सीखी थीं ? बाद में मैं जान सका था कि उसने भी अपने सीने में प्रचण्ड दुख छिपा रखा था।

बातचीत करते-करते काफी वक्त बीत चुका था। वक्त किस तरह पंख लगाये उड़ा जा रहा था, इसका हममें से किसी को भी ख्याल ही नहीं था। बहुत दिनों के बाद हमारी मुलाकात हुई थी। अतएव हम लोग दिल खोलकर बातें करने में लगे हुए थे।

उसके बाद वह हठात् फिर पूछ बैठा—तुम तो मुझसे चार साल छोटे हो, विमल। इसका मतलब यह कि इस समय तुम इक्कीस वर्ष के हो।

मैंने हामी भरते हुए कहा—हाँ, मैं तो पहले ही यह बता चुका हूँ।

द्विजेन ने कहा—देखो, तुम्हारी जिन्दगी के इक्कीस साल तो यूँ ही गोलमाल में बीत गये। बोलो, मैं ठीक कह रहा हूँ या नहीं ?

मुझे द्विजेन के कथन की सच्चाई स्वीकार करनी ही पड़ी। बारह-तेरह साल की उम्र से ही मेरे मन में यह साध अंकुरित हो चुकी थी कि मैं एक साहित्यिक बनूँगा। एक सस्ती-सी मेस में मैं रहूँगा और लिखकर महीने में पच्चीस रुपये कमा लेने पर ही मेरा काम चल जायेगा। किसी भी दिन विवाह नहीं करूँगा, व्यापार नहीं करूँगा और न ही करूँगा नौकरी। केवल एकाग्र होकर कहानी-उपन्यास लिखूँगा। पच्चीस रुपये उस जमाने में कम नहीं होते थे। वे पच्चीस रुपये कमा पाने पर ही मैं अपना खर्च चला लूँगा और मुझे किसी की गुलामी नहीं करनी पड़ेगी। यही थी मेरे मन की एकमात्र आकांक्षा। मेरे परिवार की आर्थिक अवस्था मध्यम दर्जे की थी। इसीलिए मेरे मन में विशेष आकर्षण नहीं था।

और फिर अपने छात्र-जीवन में ही सत्रह साल की उम्र से ही मैं कहानियाँ लिखकर महीने में बीस-पच्चीस रुपयों की आमदनी कर लिया करता था।

पिताजी पूछा करते—तुम मेरे पास कॉलेज की फीस के रुपये तो नहीं माँगते।

मैं जवाब देता—मैं खुद फीस के रुपये जुटा लेता हूँ।

सिर्फ कहानियाँ ही नहीं। मैं गीत भी लिखा करता था। एक-एक गीत के लिए बारह रुपये मिला करते थे। उस जमाने के बड़े-बड़े गायकों के कंठ-स्वर में उन गीतों के रेकार्ड तैयार किये जाते। और कहानियाँ लिखकर भी मैं करीब सत्रह-अठारह रुपये कमा लेता था।

फिर भी मेरे मन की साध पूरी नहीं हो पा रही थी।

अतएव द्विजेन की बातें मुझे अक्षरशः सत्य प्रतीत हुईं। मैंने ठंडे दिमाग से सोच-कर देखा। सचमुच ही मेरे जीवन के इक्कीस वर्ष गोलमाल में ही बीत गये थे।

द्विजेन ने कहा—तुम इक्कीस साल के हो चुके हो। अब जिस दिन तुम्हारी उम्र इकतीस साल की हो जायेगी, उस दिन भी तुम यही देखोगे कि जीवन इसी तरह गोलमाल के बीच ही बीत गया।

द्विजेन की बातें सुनकर मैं भयभीत हो गया।

द्विजेन फिर कहने लगा—उसके बाद एक दिन जब तुम्हारी उम्र इकतालीस वर्ष की हो जायेगी, तब भी तुम देखोगे कि गोलमाल के बीच ही तुम्हारी जिन्दगी कट गई है। उसके बाद एक दिन तुम्हारी उम्र इकतालीस से इक्यावन साल की होगी, उस समय भी तुम देखोगे कि सिर्फ गोलमाल के बीच ही तुम्हारी जिन्दगी बीत गई है। उसके बाद तुम्हारी उम्र इक्यावन से इकसठ वर्ष होगी, इकसठ से इकहत्तर होगी और होगी इकहत्तर से इक्यासी। उस समय तक अगर तुम जिन्दा रहोगे, तो देखोगे कि पूरी जिन्दगी ही गोलमाल के बीच कट गई है। लेकिन उस समय तो सुधार करने का कोई उपाय बचा नहीं रहेगा। तुम देखोगे कि तुम्हारी पूरी जिन्दगी समस्त रूप से गोलमाल के कार्य-कलापों में ही बर्बाद हो गई है। यही है शत-प्रतिशत आदमियों की जिन्दगी की ट्रैजेडी।"

द्विजेन की बातों ने मेरे दिल-दिमाग मे तूफान ला दिया। उस दिन घर लौटने पर रात में नींद भी नहीं आई। तो क्या सबों की एकमात्र यही नियति है? सबों की जिन्दगी की क्या यही ट्रैजेडी है? मैं आसपास के परिचितों के जीवन का विश्लेषण करने लगा। मैंने पाया कि यह बात सरासर गलत हो, ऐसा कतई नहीं। मुहल्ले के जो बूढ़े-बुजुर्ग थे, उनकी बातें सोचने लगा मैं। वे सभी उस समय व्यर्थ के जीवन का भार ढोते-ढोते क्लान्त और अवसन्न थे। सबो ने अपनी जवानी के दिनो मे अच्छा व्यवसाय किया था अथवा की थी बढ़िया नौकरी। एक दिन उन्होंने बेशुमार रुपये कारोबार मे कमाये थे या नौकरी मे मोटी तनख्वाह पाई थी। लेकिन प्रायः समस्त जीवन का योगफल मानो शून्य था। वे उस समय अवहेलित थे, नि.संग थे और थे नि.शेषित। मैंने सोचा कि ऐसी दशा तो एक दिन मेरी भी होगी। उस वक्त ? उस वक्त क्या करूँगा मैं ?

इस भयावह परिस्थिति से उबरने का आखिर उपाय क्या है ?

उस रात से ही मैंने सोचना आरंभ कर दिया। मैं छटपटाने लगा। इसका कोई उपाय करना ही होगा। इसका कोई प्रतिकार ढूंढ निकालना ही होगा।

किन्तु अपने लड़के की इस तरह की हालत देखकर पिताजी की दुश्चिन्ता शुरू हो गई। उन्होंने फिर और देर नहीं की।

वे एक दिन लड़के को लेकर एक नौकरी दिला आये। एकबारगी बढ़िया तनख्वाह की नौकरी। बोले—बेटा, नौकरी मिलना ही मुश्किल है, छोड़ने में तो एक मिनट का वक्त भी नहीं लगेगा।

वे तो कहकर ही चुप हो गये। लेकिन मुक्ति पाना क्या इतना आसान

नौकरी में प्रवेश करने के साथ-साथ ही दूसरा विश्वयुद्ध शुरू हो गया। और साथ-ही-साथ नौकरी में एक के बाद एक तरक्की मिलने लगी। उधर तनख्वाह बढ़ती, इधर मन में बढ़ता भय। अधिक रुपयों की तनख्वाह हो जाने पर फिर नौकरी कैसे छोड़ी जा सकेगी?

आखिरकार एक दिन मुझे द्विजेन की बातें याद आईं। उस समय मेरी उम्र थी इकतालीस वर्ष की। तो क्या बाकी जिन्दगी इसी तरह गोलमाल में कट जायेगी? और फिर मैंने उसी दिन उस नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। मैंने पेंशन लेना भी स्वीकार नहीं किया। नहीं, मैं अब अपनी बाकी जिन्दगी गोलमाल में व्यतीत नहीं करना चाहता। उस समय से ही मेरा दिन-रात का लेखन-कार्य शुरू हो गया। सिर्फ लिखना, लिखना और लिखना···। दिन के चौबीस घंटों में लेखन के सिवाय और कोई दूसरा काम मेरा नहीं था। लिखना और पढ़ना—सिर्फ यही।

अभी भी मुझे उस द्विजेन की बातें याद हैं। लेकिन सन् 1973 ई० में इकसठ साल की उम्र पूरी होने के बाद रात में जाग कर लिख पाना मेरे लिए मुमकिन नहीं रहा। मेरी ट्रैजेडी यह हो गई कि सबों की भाँति मुझे भी रात में सोने की जरूरत पड़ने लगी। लेकिन नींद की गोलियाँ खाकर।

आज मैं अपने जीवन के 74 साल पूरे कर रहा हूँ। 75वें में प्रवेश करूँगा। अब पता नहीं, कब राम जी का बुलावा आ जाये! इसीलिए मैंने आपको अपने जीवन की यह अनकही कहानी सुनाई। मैंने बुरा लिखा या अच्छा लिखा, इसका विचार तो मेरी मौत के बाद होगा। लेकिन मैंने अपने काम में कभी फाँकी नहीं दी, यह जरूर कहूँगा। मैं आज दूर से ही द्विजेन को धन्यवाद देता हूँ। आखिरकार मैंने अपनी जिन्दगी को पूर्णतः गोलमाल में नहीं बिताया। इसका समस्त कृतित्व द्विजेन का ही है। अगर उस दिन द्विजेन ने मुझे होशियार नहीं कर दिया होता, तो आज मेरे अनुताप का कोई अन्त नहीं होता। यही बात सोच-सोच कर ही मैं आज इस उम्र में उसके प्रति कृतज्ञता अर्पित कर रहा हूँ।

और दुख? वह तो मेरा नितान्त अपना है। नितान्त गोपन···। इसीलिए सबों से छुपाकर मैंने दुख को ही तो अपने हृदय की बैंक के फिक्स्ड-डिपॉजिट खाते में जमा कर रखा है और उसके सूद से रस-ग्रहण कर मैं अपना जीवन बिताता जा रहा हूँ।